



वर्ष-5, अंक: 9-10 (संयुक्तांक) जनवरी-दिसंबर, 2017

जेएनयू पाठक



इस अंक के कुछ महत्वपूर्ण लेखक :

दीपक कुमार, गोपाल गुरु, अजय पटनायक, पंकज सिंह, सतीश चन्द्र गरकोटी,
रवि श्रीवास्तव, सुचेता महाजन, सौमित्र मुखर्जी, अखलाक 'आहन', प्रो. रामवक्ष जाट, संदीप सौरभ,
उज्ज्वल आलोक, एजाजुल हक, अरविंद कुमार, सोपान जोशी, आदि

हमारे भव्य जंगलात उन वन्य जीवों एवं खूबसूरत परिरदों को उद्धृत करते हैं जो हमारे जीवन को उज्जवल बनाते हैं। यदि वे भव्य वन्य जीवन हमें खेलने व देखने को ना मिले तो हमारा जीवन नीरस व रंगहीन हो जाएगा। अतः हमें बचे हुए वन्यजीवों एवं जंगलों का संरक्षण करना चाहिए।

- पं. जवाहरलाल नेहरू



हनी-बी



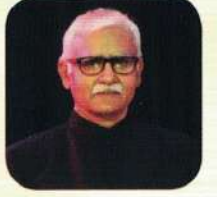
बम्बल-बी



रेड वेलवेट माइट



पेंटेड ग्रासहोप्पर



मानसून के आते ही जेएनयू परिसर का प्राकृतिक सौंदर्य अपने यौवन के शिखर पर होता है। बारिश के पानी से नहाए हुए पेड़ पौधे, धुली हुई चट्टानें मौसमी फूलों व फलों से लदे पेड़ और मलमल के मानिंद हरी घास की कालीन जिस पर ओस की बूंदें सूरज की रोशनी में सुनहरे मोतियों की तरह प्रतीत होती हैं, परिसर की छटा को एक कभी न भूलने वाला एहसास बना देती है, जो किसी भी प्रकृति प्रेमी के स्मृति पटल पर हमेशा-हमेशा के लिए अंकित हो जाता है। यही वो समय होता है जब कीट-पतंगों का यौवन भी अपने पूर्ण उन्माद पर होता है। जगह-जगह फूलों पर मंडराती मधु-मक्खियाँ मकरंद का रसपान करती नज़र आ जाती हैं तो कहीं मकरंद के नशे में मदहोश आवारा भौरा रास लीला रचाते नज़र आते हैं! कहीं किसी पेड़ या झाड़ी की ओट में छिपकर झींगुर अपने सुरीले राग से अपनी प्रेयसी को रिझाने के लिए प्रणय निवेदन करते सुनाई देते हैं, तो वहीं रंग-बिरंगी तितलियाँ भी खूबसूरत फूलों के आसपास अपना स्वयंवर रचाती नज़र आती हैं। मगर इन सबसे अलग हरी घास की कालीन पर रंगती हुई 'रेड वेलवेट माइट' की खूबसूरती को शब्दों में बयाँ करना असंभव है।

राजधानी दिल्ली में लगभग एक हज़ार प्रजातियों के कीट पतंगे पाए जाते हैं जिनमें से एक विशाल भाग हमारे परिसर में पाया जाता है। इनमें मुख्य रूप से जुगनू तितलियाँ, पतंगे, टिड्डे, भौरा, मधु-मक्खियाँ, सिकाडा, झींगुर आदि प्रमुखता में देखे जा सकते हैं।

कीट-पतंगे शीत रक्तितम जीव होने की वजह से केवल ग्रीष्म ऋतु से लेकर सितम्बर माह के अंत तक प्रचुरता में देखे जा सकते हैं व जैसे-जैसे शरद ऋतु का प्रारंभ होता है वे जीव या तो सुषुप्तावस्था में चले जाते हैं या अपना जीवन-चक्र पूरा कर चुके होते हैं।

खाद्य शृंखला में इन कीटों का अति विशिष्ट योगदान होता है जो पर्यावरण को सुचारु रूप से चलाने के लिए महत्वपूर्ण है।

जिसमें 'परागण' व 'प्रकीर्णन' प्रमुख है। अचरज की बात ये है कि हम इन लघु जीवों को अक्सर नज़रअंदाज़ कर देते हैं और ये सब हम अज्ञानता वश करते हैं। यदि धरती पर से इन सूक्ष्म जीवों को हटा दिया जाए तो हम सभी का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।

इन कीटों के हाशिये पर आने के कई कारण हैं जिनमें से मुख्य हैं 'कीट-नाशकों' का अत्याधिक उपभोग व देशी या स्वदेशी वनस्पतियों का अभाव जहां ये अपना जीवन चक्र पूरा करते हैं। तेज रोशनी वाले मर्करी व हैलोजन लैंप जुगनुओं के प्रजनन में बाधा उत्पन्न करते हैं जिसके कारण इनकी आबादी तेजी से घट रही है। 'सांस्कृतिक प्रदूषण' भी कई कीटों को प्रभावित कर रहा है जिनमें चाय के प्यालों में दम तोड़ती मधु-मक्खियाँ हर कैटीन के आस-पास नज़र आ जाएंगी। यदि हम चाय के कप को डस्टबीन में डाल दें तो शायद हम भी देश के 'स्वच्छ भारत' के अभियान में भी शामिल हो पाएं व कीटों को भी बचा पाएं।

यदि हम सभी लोगों ने समय रहते इन कीट-पतंगों के संरक्षण के प्रति जागरुकता व सजगता नहीं दिखाई तो संपूर्ण 'प्राकृतिक खाद्य शृंखला' चरमरा जाएगी और हम मानव समाज भी अछूते नहीं रहेंगे, क्योंकि परागण व प्रकीर्णन के अभाव में फल व सब्जियों की पैदावार ही रुक जाएगी। तो आइये हम संकल्प लें कि हम एक नई पहल कर इन कीटों के सूक्ष्म पर्यावरण को संरक्षित कर एक 'स्वच्छ भारत' का निर्माण करें।

- डॉ. सूर्य प्रकाश

जेएनयू परिसर

वर्ष : 5, अंक : 9-10 (संयुक्तांक) जनवरी-दिसम्बर 2017

संपादक-मंडल

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
प्रो. सौमित्र मुखर्जी
डॉ. प्रमोद कुमार
प्रो. डी.के. लोबियाल
डॉ. मणीन्द्र नाथ ठाकुर
प्रो. देवशंकर नवीन
प्रो. अखलाक अहमद 'आहन'
डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल
प्रो. नीलिका मेहरोत्रा
श्रीमती पूनम एस. कुदेसिया
श्री सुमेर सिंह

प्रबंध संपादन

डॉ. सूर्य प्रकाश
डॉ. शिवम शर्मा

टंकण सहयोग

श्री दीपक कुमार

बाल कृति

जेएनयू नर्सरी स्कूल के सौजन्य से

कवर फोटो

वकील अहमद

संपर्क

प्रबंध संपादक
'जेएनयू परिसर'
राजभाषा प्रकोष्ठ
301, प्रशासनिक भवन
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
दूरभाष : + 91-11-26704023
ई-मेल : hindiunit@mail.jnu.ac.in

संपादन/संचालन : अवैतनिक

जेएनयू की इस गृह पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के हैं। उनसे विश्वविद्यालय अथवा संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं। उसके लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

संपादकीय/2

बातचीत/3

दीपक कुमार

हिंदी दिवस पर विशेष/5-11

हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी: प्रो. सतीश चन्द्र गरकोटी,
प्रो. रवि श्रीवास्तव, प्रो. सुचेता महाजन, प्रो. सौमित्र मुखर्जी,
प्रो. सोनाझारिया मिंज, प्रो. राकेश कुमार त्यागी
संयोजन : नीलमणी भारती, नीलम सेन, सरिता माली,
अभिषेक कुन्दन, मंजुला मोया

अध्ययन कक्ष/12

गोपाल गुरु

लेखक की दुनिया: कथा/13-22

दूसरा कमरा : एजाजुल हक
झेलम हास्टल रूम नं. 32 : जैनेन्द्र कुमार
वसूली देवी : सुगन्धा अग्निहोत्री

लेखक की दुनिया: कविताएं

उज्ज्वल आलोक/20, अंकित तोमर/22, शगुन सिन्हा/34,
राकेश यादव/45, शंभुनाथ सरकार/38

जेएनयूपन/23-24

प्रो. अजय पटनायक

पाठ्यक्रम संवाद : हिंदी पाठ्यक्रम/25-29

प्रो. रामबक्ष जाट, प्रो. देवेन्द्र चौबे, प्रो. रामचन्द्र,
प्रो. गरिमा श्रीवास्तव, डा. पूनम कुमारी
संयोजन : सुशील कुमार, प्रदीप कुमार, धनंजय प्रताप

काव्य सृजन/30-31

पंकज सिंह की कविताएं

अनुवाद/32-34

प्रो. अखलाक 'आहन'

यादों के गलियारे से/35-39

सोपान जोशी, पवन कुमार, श्रीचन्द्र खितौलिया
लेख/40-51

अरविंद कुमार, पूजा सिंह, डॉ. सत्येन्द्र कुमार,
शुभनीत कौशिक, सोनम सिंह

स्वास्थ्य/52-56

डॉ. अजय शास्त्री, डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव

गंगा ढाबा/57-58

संदीप सौरभ

गतिविधियां/59-60

हिंदी-साहित्य समागम, विश्व हिंदी दिवस का आयोजन, ब्रह्मसिद्धि पर राष्ट्रीय कार्यशाला, लिली रे साहित्य पर विचार गोष्ठी, बिहार सरकार के राजभाषा विभाग का विद्यापति सम्मान, 17वीं योगासन प्रतियोगिता का आयोजन

संपादकीय

जेएनयू परिसर सम्पादकीय मंडल की शुरु से ही यह कोशिश रही है कि यह पत्रिका इस विश्वविद्यालय की आंतरिक संस्कृति का आइना हो। इसलिए इसमें विषय के लिहाज़ से एकरसता के बजाय विश्वविद्यालय जीवन के सभी रंगों को समोने और समाहित करने की चेष्टा रहती हैं। इसका उदाहरण विषय-सूची में शामिल लेख और संपादक-मंडल से भी लगाया जा सकता है, जिसमें भाषा-साहित्य के साथ-साथ विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, कंप्यूटर और दूसरे विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित विद्वान् और विशेषज्ञ शामिल हैं।

जेएनयू परिसर के पाठक इस बात से भली-भांति अवगत हैं कि पिछले कुछ अंकों से उपरोक्त विशेषता को उत्तम ढंग से प्रस्तुत करने हेतु विभिन्न श्रृंखला जैसे लेखक की दुनिया, जेएनयूपन, पाठ्यक्रम संवाद, यादों के गलियारे से, गंगा-ढाबा आदि शुरु किया गया, जिससे जेएनयू के अपने विशिष्ट बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन, क्रियाकलापों और दृष्टिकोण की झलकियां देखी जा सकती हैं। इस स्वरूप को रेखांकित करने में हम खासतौर से प्रो. देवेन्द्र चौबे के आभारी हैं।

मौजूदा अंक में विशेष रूप से विश्वविद्यालय के छात्रों की कृतियों जिनमें कविताएं, कहानियां और लेख हैं, शामिल किया गया है ताकि छात्र भागीदारी के साथ, भाषा एवं साहित्य में उनकी रूचि और जुड़ाव में इज़ाफ़ा हो। इस अंक में हिंदी दिवस के मद्देनजर हिंदी भाषा के हवाले से कई सामग्रियां प्रस्तुत की जा रही हैं, जिसमें विशेष रूप से हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी शीर्षक से एक अहम परिचर्चा को शामिल किया गया है, जिसमें विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों और विषयों से जुड़े विद्वानों ने हिंदी भाषा को दरपेश चुनौतियों के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस परिचर्चा में प्रो. सतीश चंद्र गरकोटी, प्रो. रवि श्रीवास्तव, प्रो. सुचेता महाजन, प्रो. सौमित्र मुखर्जी, प्रो. सोनाझरिया मिंज और प्रो. राकेश कुमार त्यागी ने हिस्सा लिया और इसका संचालन जेएनयू में हिंदी विभाग के छात्र नीलमणि भारती ने किया। इसमें हिंदी से संबंधित समस्याओं, चुनौतियों और हमारी जिम्मेदारी पर विस्तृत बहस हुई है और लगभग सभी ने ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित दूसरी भाषा की किताबों के अनुवाद पर ज़ोर दिया है।

हाल ही में शुरु हुए कुछ महत्वपूर्ण स्तम्भों में पाठ्यक्रम संवाद है। इस अंक में हिंदी भाषा और साहित्य पाठ्यक्रम और उसके विभिन्न पहलुओं के बारे में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र से संबंधित विद्वान् और हिंदी अध्यापक प्रो. रामबक्ष, प्रो. देवेन्द्र चौबे, प्रो. रामचंद्र, प्रो. गरिमा और डॉ. पूनम के विचारों को संकलित और पेश किया गया है, जो न केवल जेएनयू अपितु पूरे हिंदी जगत् में पाठ्यक्रम के हवाले से अत्यंत महत्वपूर्ण और उपयोगी चर्चा है। उसी तरह विज्ञान इतिहास के सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. दीपक कुमार की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'त्रिशंकु राष्ट्र' के सन्दर्भ में उनकी बातचीत और भारत में सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान की परिस्थिति के बारे में जाने-माने समाजशास्त्री प्रो. गोपाल गुरु की बातचीत बड़ी ज्ञानवर्धक और रोचक हैं। 'जेएनयूपन' शीर्षक के अन्तर्गत परिसर के इस श्रृंखला में कैम्पस की जानीमानी शख्सियत प्रो. अजय पटनायक की आपबीती बेहद दिलचस्प है और नयी पीढ़ी के लिए शिक्षाप्रद भी।

इसके साथ ही कुछ विशेष रचना और लेख इस अंक में शामिल हैं। जेएनयू के पूर्व छात्र, कवि और लेखक पंकज सिंह की कविताओं द्वारा हम उन्हें श्रद्धांजलि-पुष्प अर्पित करते हुए आदर से याद कर रहे हैं। उनका रचना-संसार उस युग की विभिन्न राजनैतिक, दार्शनिक और दूसरे सरोकारों का दर्पण है। डॉ. अरविन्द कुमार का लेख भारतीय साहित्य और संगीत में अमीर खुसरो का योगदान रोचक हैं। पवन कुमार, श्रीचंद्र खितौलिया ने जेएनयू में बिताए लगभग चार दशकों के तजर्बे को साझा किया है। इसके साथ ही उन लेखों, कविताओं और कहानियों को शामिल किया गया है जिन्हें विश्व हिंदी दिवस पर केंद्रित प्रतियोगिता में पुरस्कृत किया गया था। कृष्ण बिहारी 'नूर' के शब्दों में:

आइना यह तो बताता है कि मैं क्या हूँ मगर
आइना इस पे है ख़ामोश कि क्या है मुझ में

अख़लाक़ 'आहन'

नोट:- कुछ अपरिहार्य कारणों से यह अंक संयुक्तांक प्रकाशित करना पड़ रहा है।

निस्संदेह, विज्ञान का चरित्र ही बहुत बदल गया है



भारत में ज्ञान-विज्ञान के इतिहास को जिन इतिहासकारों ने एक मुकाम दिया है, उनमें जेएनयू के सामाजिक विज्ञान संस्थान के इतिहासकार प्रो. दीपक कुमार का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

त्रिशंकु राष्ट्र (Trishanku Nation) उनकी हाल ही अनुदित-प्रकाशित पुस्तक है। प्रस्तुत है, उनसे जेएनयू के पूर्व छात्र और युवा आलोचक गणपत तेली से बातचीत के खास अंश।

इतिहास और विज्ञान के शोध में आपकी रुचि कैसे बनी?

पटना विश्वविद्यालय से एम.ए. पास करने के बाद मैं पटना में एक रिसर्च प्रोजेक्ट में असिस्टेंटशिप का काम कर रहा था, उस दौरान मुझे पटना राज्य अभिलेखागार में काम करने और ऐतिहासिक की सुंदरता से परिचित होने का मौका मिला। इससे मैं एक ऐसा शोधार्थी बना जिसने हमेशा शोध में अभिलेखागार को महत्व दिया। अभिलेखागार में गुजरे जमाने के भुरभुरे पन्नों पर अतीत फिर से जीवंत हो उठता है। एक प्रख्यात वाम विद्वान् वी.सी.पी. चौधरी के नेतृत्व में हो रहे उस प्रोजेक्ट का विषय आधुनिक बिहार का निर्माण था। उन्होंने मुझे ऐतिहासिक शोध की पद्धतियों से परिचित कराया। प्रोजेक्ट के सिलसिले में कर्जन कालीन बिहार के दस्तावेजों को पढ़ते समय मुझे उत्तर बिहार के पूसा स्थित कृषि शोध संस्थान के कुछ दस्तावेज मिले, इससे मेरे मस्तिष्क में कुछ सवाल उठे, जैसे अंग्रेज सरकार ने कृषि क्षेत्र में क्यों निवेश किया? क्या कृषि में भी विज्ञान शामिल है? आखिरकार, उपनिवेश भी एक तरह से पौधों पर ही निर्भर था। पौधों का विज्ञान क्या था? क्या पेड़-पौधों और बगीचे के बीच में कोई ज्ञान का संबंध था और इसी तरह विज्ञान और उपनिवेशवाद के बीच? इन्हीं प्रश्नों से, सन 1975 में मेरे भविष्य के शोध का विषय तय हुआ, जो बीस साल बाद मेरी किताब साइंस एन्ड दी राज (विज्ञान और उपनिवेशवाद) के रूप में प्रकाशित हुआ।

यह विषय परंपरागत विषयों से हटकर था। आज भी, जब अन्तरअनुशासनात्मक अध्ययन का जोर है, अनुशासन से बाहर जा पाना अक्सर स्वीकार्य नहीं होता है, तो उस समय आपके सामने किस प्रकार की चुनौतियाँ आईं?

मेरे कुछ सम्मानित शिक्षक मेरे विषय को लेकर वाकई में चिंतित थे। प्रोफेसर आरएस शर्मा ने मुझे 'मुख्यधारा के इतिहास' से विषय चुनने का सुझाव दिया। सौभाग्य से, मैं नहीं समझ पाया कि मुख्यधारा क्या होती है और विज्ञान के साथ अपने लगाव से जुड़ा रहा। उस समय तक जिन वैज्ञानिकों के दिन लद जाते थे, वे विज्ञान के इतिहास में गोते लगाते थे। वैज्ञानिकों और इतिहासकारों

के बीच कोई संवाद नहीं था। इतिहास का कोई भी विभाग यह विषय नहीं पढ़ता था। प्रोफेसर शर्मा ने मुझे सही चेतावनी दी थी कि मैं धोबी का कुत्ता बन जाऊंगा- न घर का, न घाट का। मैं हाल तक जेएनयू के शैक्षणिक अध्ययन केन्द्र में इतिहास पढ़ता था।

समस्या सामग्री जुटाने के दौरान भी आई। औपनिवेशिक अफसर अपने नोट्स संभालने और रिकॉर्ड रखने के मामले में बहुत गंभीर होते थे। ब्रिटेन में जिन अंग्रेज चिकित्सकों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और नौकरशाहों ने भारत में काम किया या भारत की यात्राएं कीं, उनमें से कुछ ने इस दौरान नोट्स या संस्मरण लिखे और अपनी पसंद की कॉलेज या यूनिवर्सिटी में जमा कराए। इन निजी दस्तावेजों में वैयक्तिकता के साथ अतीत एक बार फिर जिंदा हो उठता है। इंग्लैंड की अपनी छोटी सी यात्रा के दौरान मैंने इन निजी दस्तावेजों पर खास दिया। सरकारी दस्तावेज तो भारत में अनंत हैं लेकिन बर्तानवी पुस्तकालय इन निजी संग्रहों से लबालब भरे पड़े हैं। भारत के अभिलेखागारों में किसी फाइल विशेष को प्राप्त करना एक कठिन काम होता था। मुझे अनेक सूचियों को देखकर उसमें से अपनी जरूरत के मुताबिक रिकार्ड या फाइल नंबर लिखना होता और उम्मीद करनी होती थी कि वह मिल जाय। हर एक दिन मुझे तीस फाइल या रिकार्ड मांगने की इजाजत थी, मैं खुशनसीब होता यदि उनमें से दो या तीन भी मिल जाती। पार्ट-ए की फाइलें अक्सर मिल जाती थीं लेकिन पार्ट-बी, सी और डिपोजिट फाइल्स शायद अब बची ही नहीं थीं। एक ओर समस्या, मेरे शोध के विषय को लेकर थी। अभिलेखागार की सूचियों में मुझे शब्द 'विज्ञान' के अंतर्गत कुछ भी नहीं मिलता था इसलिए मैंने की-वर्ड्स की एक सूची जिसमें 'ए' से एग्रीकल्चर (कृषि), 'बी' से बोटनी (वनस्पति विज्ञान) से 'जेड' से जुलोजी (जीव विज्ञान) तक थे, बनाई। इससे मुझे विज्ञान से संबंधित ज्ञान का एक बड़ा हिस्सा देखने का मौका मिला।

इस दौरान मैंने कुछ ऐसे वैज्ञानिक जिन्होंने स्वतंत्रता-पूर्व नाम कमाया और अब भी जिंदा थे, से मिलने की कोशिश की। अब मैं सोचता हूँ कि काश मैंने वह बातचीत रिकॉर्ड कर ली होती। इनमें कलकत्ता के प्रियदा रंजन रे, जेएन मुखर्जी, एस एन सेन, इलाहाबाद के एन आर धर, मद्रास के पी एन अप्पुस्वामी, दिल्ली के डी एस कोठारी और बंबई के सालीम अली शामिल हैं। विज्ञान की इन बड़ी हस्तियों से मिलना मेरा सौभाग्य था लेकिन

में इस अवसर का इस्तेमाल न कर पाया। मौखिक अभिलेखागार के बारे में क्या ही कहा जाय? जब हमने हमारे वैज्ञानिकों और विद्वानों के निजी दस्तावेजों को ठीक से संग्रहित और संरक्षित नहीं किया, तो प्रौद्योगिकीय अभिलेखागार दूर का स्वप्न है।

हमारे देश में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और तकनीक की स्थिति पर आपके क्या विचार हैं?

क्या प्रौद्योगिकी विज्ञान का दूसरा रूप है? संभवत नहीं। ये दोनों ऐतिहासिक चर हैं। विज्ञान आंशिक रूप से प्रौद्योगिकी से संबंधित ज्ञान है और प्रौद्योगिकी ज्ञान से युक्त हो सकती है, इसलिए दोनों को अलगाना नहीं चाहिए। वे 'सहजीवी संबंध' में संबद्ध एक ही सिक्के की दो पहलू हैं। प्रौद्योगिकीय-वैज्ञानिक घटनाक्रमों को अनिर्धारित, बहु-दिशात्मक चालक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें इतिहास को रूप देने वाले समूहों और ताकतों के बीच वाद-विवाद-संवाद शामिल होता है। वैश्विक स्तर पर, दो विश्वविद्वों ने न केवल प्रोमेथियस को बचाया बल्कि उसे आधुनिक युग के प्रमुख देवता के रूप में स्थापित भी किया। कार्ल पोप्पर (दार्शनिक), सी पी स्नो (उपन्यासकार), डेविड लेन्ड्स इतिहासकार), और डब्ल्यू डब्ल्यू रोस्तोव (अर्थशास्त्री) जैसे विभिन्न अकादमिक पृष्ठभूमि के जाने-माने विद्वानों ने विज्ञान, प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण की विवेकसम्मतता एवं लोकतंत्र के मूल्यों के बीच एक संबंध देखा।

फिर भी हमारे पास गांधी के इस सवाल का जवाब नहीं है कि विज्ञान को किसानों को कैसे समझाया जाएगा। उनके सवाल को विज्ञान के यथार्थ से दूर रहने वाले विभिन्न क्षेत्र के वैज्ञानिकों को ध्यान में रखना चाहिए। गांधी जानते थे कि पूंजीवादी लालच के साथ संबद्ध आधुनिक प्रौद्योगिकी पहले से जाति-भेद के दंश से ग्रसित समाज में नई ऊंच-नीच पैदा करेगी और जो गरीबों को और भी हाशिए पर धकेल देगी। नेहरू विज्ञान के प्रशंसक थे और उन्होंने वैज्ञानिक मिजाज पर अतिरिक्त जोर दिया। इंदिरा गांधी ने भी अद्यतन ज्ञान पर जोर देने का प्रयास किया। 1986 में राजीव

गांधी ने नई शिक्षा नीति लागू की। उन्होंने कंप्यूटर क्रांति और संचार के क्षेत्र में नए युग की शुरुआत की। प्रौद्योगिकीय मिशन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई।

निस्संदेह विज्ञान का चरित्र ही बहुत बदल गया है। इक्कीसवीं सदी में जगदीश चंद्र बोस, जिन्होंने अकेले रहकर अपने प्रयोगात्मक उपकरणों खुद ही बनाए, संभव नहीं है। नई प्रौद्योगिकी ने बहुत प्रभाव डाला है। लेकिन यह भी समझने की आवश्यकता है कि विज्ञान को पूरी तरह से प्रौद्योगिकी के रूप में पहचानना, न तो विज्ञान के लिए, और न ही प्रौद्योगिकी के लिए अच्छा है। पहले अर्थव्यवस्था प्रौद्योगिकी की संचालक थी, अब प्रौद्योगिकी अर्थव्यवस्था की संचालक है। इस महान कार्यांतरण में, जिज्ञासाजनित शोध को पृष्ठभूमि में डाल दिया गया। इसकी जगह अब हमारे पास बड़े बजट वाले उद्देश्य परक कार्यक्रम (जैसे अंतरिक्ष, परमाणु या रक्षा) है। देश भर में फैली 'छोटी लेकिन जिज्ञासापरक प्रयोगशालाएं' बड़े संस्थानों से कम उपयोगी नहीं होंगी। देश को कहीं और निर्मित एवं तुरंत आयातित-आत्मसात किए जाने वाले प्रौद्योगिकीय यंत्रों की बजाय वैज्ञानिक मिजाज और बौद्धिक जिज्ञासा की ज्यादा आवश्यकता है।

विज्ञान के इतिहास को जानने-समझने के लिए प्राथमिक किताबें कौन-सी हैं?

डी.एम. बोस, एस. एन. सेन और बी. वी. सुब्बारायपा द्वारा संपादित कन्साइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इंडिया देश में विज्ञान के समग्र इतिहास के लिए पढ़ी जा सकती है। प्राचीन कालीन भारत में विज्ञान को समझने के लिए डी.पी. चटोपाध्याय की साइंस एन्ड सोसाइटी इन एशियाइंट इंडिया पढ़ी जानी चाहिए। मध्यकाल के लिए इरफान हबीब के कुछ लेख देखे जा सकते हैं। आधुनिक काल के लिए बहुत सी किताबें हैं, जिनमें मेरी साइंस एन्ड राज, ध्रुव रैना की इमेजेज एन्ड कॉन्टेक्ट, शिव विश्वनादन की आर्गनाइजिंग फॉर साइंस प्रमुख है। इनमें से अधिकांश किताबों और लेखों के हिंदी में अनुवाद प्रकाशित हैं।



हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी

‘हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी’ विषय पर प्रो. सतीश चन्द्र गरकोटी, प्रो. रवि श्रीवास्तव, प्रो. सुचेता महाजन, प्रो. सौमित्र मुखर्जी, प्रो. सोनाझरिया मिंज और प्रो. राकेश कुमार त्यागी की नीलमणी भारती (पीएच.डी. हिंदी, जेएनयू) से हुई वार्तालाप के प्रमुख अंश। प्रस्तुत वार्तालाप में नीलम सेन, सरिता माली, अभिषेक कुन्दन, मंजूला मोया सहयोगी रहे।

• प्रो. सतीश चन्द्र गरकोटी (वैज्ञानिक और रेक्टर, जेएनयू)

आज जब हिंदी साहित्य, राजभाषा एवं सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित है इन सब पहलुओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान में हिंदी की स्थिति के बारे में आपके क्या विचार हैं?

एक सम्पर्क भाषा के रूप में हिंदी को देखा जाए तो मूल रूप से यह जोड़ने वाली भाषा है। कई अहिंदी क्षेत्रों में भी हिंदी आपसी सम्पर्क की भाषा के रूप में प्रयोग की जाती है। हिंदी इतनी सार्वभौमिक है कि इसमें विविधता ज्यादा है। मेरा मानना है कि हिंदी और हमारे देश की ओर भी कई प्राचीन भाषाएं हैं उनका मूल (जड़) एक ही रहा होगा। सर्वाधिक बोलचाल की भाषा के रूप में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा है। भारत में ही नहीं बल्कि चाइना में भी हिंदी सिखाई जा रही है जिससे व्यापार को बढ़ावा मिल सके। हमारे देश में कई स्थानों पर हिंदी का विरोध हो रहा है तो मेरा मानना है कि यदि क्षेत्रीय भाषाओं को कोई नुकसान पहुंचा रहा है तो वह अंग्रेजी है न कि हिंदी।

प्रशासनिक भाषा के रूप में हिंदी को बढ़ावा देने के लिए क्या प्रयास किए जाने चाहिए?

हिंदी हमारी बोलचाल की भाषा तो है लेकिन यह हमारी कार्य की भाषा नहीं बन पायी इसके पीछे कई कारण हैं। जैसे मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूं और इसमें कई टर्मिनोलॉजी अंग्रेजी में होती हैं। अब हिंदी में या तो इनका कोई अनुवाद नहीं है या फिर अनुवाद के रूप में इतना क्लिष्ट शब्द प्रयोग में लाया गया है कि उसका प्रयोग करने में बहुत समस्या आती है। इसका हल यह है कि जिन शब्दों का हमारे पास अनुवाद नहीं है उसे हम वैसा का वैसा ही ले लें तो ज्यादा बेहतर होता है और इससे हिंदी भाषा अधिक समृद्ध ही बनेगी। हमें जरूरत है कि विज्ञान या अन्य कोई भी विषय हो उनकी किताबें इतनी सुदृढ़ आएँ कि लोग उन्हें पढ़ें। कहा जाता है कि हमारा इतिहास बहुत मजबूत रहा है, हमारा ज्ञान क्षेत्र काफी विस्तृत रहा है इसका कारण यह रहा है कि हम अपनी ही मातृभाषा में पढ़ते और लिखते थे। यदि आज भी हम किसी भाषा के पिछलगू होने की बजाय अपनी मातृभाषा में सोचें उसी में अभिव्यक्त करें तो हमारा साहित्य, विज्ञान सभी क्षेत्र ज्यादा मजबूत हो पाएंगे।

हमारे देश के पिछड़े इलाकों में रहने वाले छात्र-छात्राओं को हिंदी में ज्ञान-विज्ञान की अच्छी पुस्तकें नहीं मिल पातीं इस वजह से वे ज्ञान विज्ञान में उतने सक्षम नहीं हो पाते तो ज्ञान को उन तक पहुंचाने के लिए क्या प्रयास हो सकता है?

इसके लिए सबसे पहले यह होना चाहिए कि अंग्रेजी भाषा के रूप में सीखी जाए न कि माध्यम के रूप में। छात्र अंग्रेजी तो सीखें लेकिन माध्यम हिंदी होना चाहिए, अंग्रेजी को एक भाषा के तौर पर लेना चाहिए। हमें अपनी भाषा को कमतर नहीं आंकना चाहिए। हमें हिंदी को सुदृढ़ बनाने के लिए ऐसी टेक्स्ट बुक्स लानी होंगी, माहौल बनाना होगा कि हम कमतर न आंके जाएँ।

हिंदी के क्षेत्र में अनुवाद के प्रोत्साहन हेतु क्या प्रयास करने चाहिए?

इस हेतु सरकार की ओर से योजना तो होनी ही चाहिए इसी के साथ हिंदी के विकास को एक जन-आन्दोलन बनाया जाना चाहिए जिसकी बागडोर उन लोगों के हाथ में हो जो हिंदी साहित्य में काम कर रहे हैं। इसी के साथ इस आन्दोलन में वे लोग भी होने चाहिए जो हिंदी के अलावा अन्य विषयों की जानकारी भी रखते हों। जिससे हिंदी और हिंदीतर भाषा-भाषियों में संवाद हो सके। हिंदी का इतिहास हजारों साल पुराना रहा है। इसमें अथाह ज्ञान भरा पड़ा है। हिंदी के विकास के लिए हम सिर्फ अनुवाद के भरोसे नहीं रह सकते हमें मौलिक ज्ञान को भी सामने लाना होगा।

आज भाषायी आन्दोलन के दौर में हिंदी के भविष्य के बारे में आपके विचार क्या हैं?

मेरा मानना है कि जो चीजें सकारात्मकता लेकर चलती हैं उनका कितना भी विरोध हो वे एक दिन सर्वपटल पर खुद-ब-खुद आ जाती हैं। हिंदी के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है। बोलचाल की हिंदी को बढ़ावा देने में बॉलीवुड की बहुत बड़ी भूमिका रही है। हिंदी बोलचाल की भाषा तो है लेकिन जब यह पठन-पाठन की, ज्ञान-विज्ञान की भाषा बन जाएगी जब लोगों को लगने लगेगा कि हमें हिंदी की जरूरत है और हमें हिंदी सीखनी चाहिए तो लोग भी जरूर हिंदी सीखने, प्रयोग करने का प्रयास करेंगे। यहां हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी का प्रचार-प्रसार स्वाभाविक रूप में

हो न कि किसी पर यह थोपा जाए।

जब हिंदी कामकाज की भाषा हो जाएगी, लेखन-पठन की भाषा हो जाएगी तो हिंदी से किसी को कोई समस्या भी नहीं रहेगी।

अंत में मैं यही कहना चाहूंगा कि- “जिसको न निज भाषा न निज देश पर अभिमान है। वह नर नहीं, नर-पशु निरा और मृतक समान है।”

• प्रो. रवि श्रीवास्तव (समाज वैज्ञानिक)

आप हिंदी की वर्तमान स्थिति पर क्या सोचते हैं?

हिंदी का प्रसार धीरे-धीरे हो रहा है। भारत में हिंदी एक संपर्क भाषा के रूप में स्थापित हो यह एक अच्छी बात है लेकिन इसकी प्रक्रिया क्या होनी चाहिए उसके बारे में एक बहस हो सकती है। हमारे यहां जो त्रिभाषा फार्मूला था। उसका सफलतापूर्वक कार्यान्वयन नहीं हुआ उसकी वजह से हिंदी का पठन-पाठन जो अन्य क्षेत्रों में होता था वह उस तरह से नहीं हो रहा है। अस्सी के दशक तक इस पर अमल किया गया लेकिन इसके पश्चात् उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। हिंदी का अब जो प्रचार हो रहा है वह मुख्य रूप से मनोरंजन के माध्यम से, बॉलीवुड के माध्यम से या बोलचाल की भाषा के रूप में हो रहा है। लेकिन हिंदी का केवल मनोरंजन एवं बोलचाल की भाषा में प्रचार जरूरी नहीं बल्कि लिखित रूप में भी इसका प्रचार आवश्यक है लेकिन इसके लिए हमारी जो भाषा नीति रही है उस पर विचार करना आवश्यक है।

आज ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेजी का वर्चस्व है जिससे हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों की इस क्षेत्र में उपस्थिति बहुत ही कम है। इस पर आपका क्या कहना है?

मैं फिर कहूंगा इसके लिए हमारी भाषा नीति पर विचार करना आवश्यक है। देश के स्तर पर जहां हिंदी भाषा की महत्ता है उसकी अपनी पहचान है वही विश्व के स्तर पर अंग्रेजी भाषा की महत्ता उसकी अपनी पहचान है। आप जो सवाल कर रहे हैं इसके लिए हमें अनुवाद की महत्ता को स्वीकार करना होगा। स्कूल के स्तर पर तो जाने दीजिए आज विश्वविद्यालय में जो अच्छे-अच्छे रिसर्च हो रहे हैं उनका अनुवाद तक नहीं होता। हम उसे बच्चों तक पहुँचा नहीं पाते। ज्ञान के माध्यम के रूप में हमें भाषा की महत्ता को स्वीकार करना होगा पहले जब तक त्रिभाषा फार्मूला को स्वीकार किया जाता था लोग तीन भाषाओं को सीखते थे तब तक कुछ उम्मीद थी लेकिन पिछले कुछ दशकों से इस पर ध्यान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त हिंदी में ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अच्छी किताबें लिखी जाए इसको बहुत प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।

हिंदी के भविष्य पर आप क्या कहना चाहेंगे?

हिंदी इतने सारे लोग बोलते हैं, भविष्य तो उसका बना-बनाया है।

लेकिन एक बात यहां पर मैं कहना चाहूंगा कि हिंदी को सम्पर्क भाषा की सीमा से निकलकर उसे ज्ञान की भाषा के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। नॉलेज प्रोडक्ट हिंदी भाषा में जरूर आना चाहिए और ज्यादा से ज्यादा उपलब्ध भी होना चाहिए। दूसरा जो मैं फिर से कहना चाहूंगा कि हमें दोबारा त्रिभाषा फार्मूले को गंभीरता से शुरू करना चाहिए इन दोनों से हिंदी भाषा की नींव मजबूत होगी इसमें कोई दो राय नहीं है।

• प्रो. सुचेता महाजन (इतिहासकार)

वर्तमान समय में हिंदी उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत की संपर्क भाषा के रूप में हमारे सामने आती है। इसी के साथ यह राजभाषा एवं साहित्य की भाषा भी है। इन सब पहलुओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान में साहित्य की जो स्थिति है उस पर आप क्या कहना चाहेंगे?

यदि हम समाजशास्त्र की दृष्टि से देखें तो मुद्दा हमारे लिए यही है कि हम किस माध्यम से हम अपनी पढ़ाई-लिखाई कर रहे हैं। हमारे यहां अनुवाद को महत्त्व नहीं दिया गया। चीन, रूस आदि कई देशों में अनुवाद को काफी महत्त्व दिया जाता रहा है। इस कारण लोग हिंदी में पर्याप्त सामग्री नहीं पाते हैं और पूरी एक धारा अंग्रेजी की तरफ चली गई है। यदि पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो पाती तो हिंदी की जो प्रणाली है उसका एक मेल बैठ सकता था और विकास अच्छी गति से हो सकता था। जैसाकि अन्य देशों में होता है कि वहां की भाषा, प्रशासनिक कार्यों की भाषा और मातृभाषा में एक मेल सा बैठ जाता है ठीक वैसा ही भारत में भी संभव हो पाता। और जहाँ पर एक और डोमेन है जहाँ पर प्रशासनिक कार्य होते हैं वहाँ अंग्रेजी एक संपर्क भाषा के तौर पर काम करती रहती। यह द्विभाषीय फार्मूला और अच्छा चल सकता था लेकिन हमारे यहां इसके प्रति सोच ठीक नहीं रही या हम इस फार्मूले को ठीक से अपना नहीं पाए इसी का परिणाम है कि आज मीडियम ऑफ इन्सट्रक्शन अंग्रेजी हो गया है। आज एक टोकेनिज्म के रूप में हिंदी का प्रयोग किया जा रहा है। इससे हिंदी का दर्जा बिल्कुल भी नहीं बढ़ा है। जब तक इसके लिए कुछ कदम नहीं उठाए जाएंगे। हिंदी में अनुवाद को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। हिंदी एक भाषा की तरह तो चल तो जाएगी लेकिन हिंदी एक मीडियम ऑफ इन्सट्रक्शन और व्हीकल ऑफ रिसर्च के रूप में नहीं चल पाएगी।

जैसाकि हम जानते हैं कि हमारी 70% जनता की शिक्षा का माध्यम हिंदी ही है। उनके लिए अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा कठिन है सिर्फ माध्यम हिंदी होने के कारण इन बच्चों का प्रवेश अच्छे संस्थानों में नहीं हो पता है। तो ऐसे कौन-से प्रयास हो कि वे अच्छी संस्थाओं जैसे जेएनयू, एच.सी.यू. आदि में प्रवेश ले सकें? इसके लिए एक प्रयास यह किया जा सकता है कि जेएनयू जैसी

संस्थाएं देश के अन्य कोनों में भी शुरू की जाएं जिससे सुदूर कोने के लोग भी इसका लाभ ले सकें। केन्द्रीय विश्वविद्यालय जो लगभग प्रत्येक राज्य में हैं वहां का पढ़ाई-लिखाई का स्तर अच्छा किया जाए, या फिर जेएनयू के शिक्षक और छात्र वहां जाकर छः महीनें या साल-भर पढ़ाएं जिससे अधिक से अधिक संख्या में ज्ञान का विस्तार हो सके यह एक बेहतर उपाय हो सकता है। बनिस्पद इसके कि सभी लोग देश के चंद संस्थानों में प्रवेश लें। उक्त कदम से ज्यादा लोगों को लाभ मिल सकता है। जेएनयू जैसी संस्थाओं के कैंपस बनें। जेएनयू के छः कैंपस होने चाहिए। इनकी आउटरीचिंग होनी चाहिए। दूसरा कदम यह होना चाहिए कि हमें अंग्रेजी के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को भी प्रश्नों के दायरे में खड़ा करना होगा। जिस प्रकार राजनीति के कारण ही सन 1947 के बाद हिन्दुस्तानी देश की भाषा नहीं बन सकी और अंग्रेजी को कुछ समय के लिए बतौर संपर्क भाषा रखा गया। आजादी के बाद 1956 तक राज्यों के पुनर्गठन का आधार भाषा था जैसे पंजाब, तमिलनाडु आदि और इसके बाद से भाषा को लेकर पहचान का संकट बहुत बढ़ गया और पूरा एक अपोजिशन बन गया, जबकि आजादी के समय दक्षिण में हिंदी प्रचार समिति ने हिंदी का बहुत प्रचार-प्रसार किया। काशी विद्यापीठ में दक्षिण से लोग हिंदी पढ़ने के लिए आते थे। तब हिंदी को लेकर परस्पर इतना विरोध कहीं भी नहीं था। परन्तु आइडेंटिटी पॉलिटिक्स के चक्कर में हिंदी की जो पूरे राष्ट्र की भाषा बनने की सम्भावना थी वह खत्म हो गई। इस कारण हिंदी की जो शब्दावली बन रही थी उसमें तत्सम शब्दों को भर दिया गया। इस तरह से हिंदी भाषा रीजनल पॉलिटिक्स का शिकार बन गई। एक बात में यह भी कहना चाहूंगी कि हमारे जो सरकारी स्कूल हैं उनका माध्यम हिंदी ही रहा है और उनसे भी अच्छे विद्यार्थी देश को मिले हैं। जैसे मीरा कुमार, जो अभी हाल ही में राष्ट्रपति पद की उम्मीदवार भी थीं वे भी दिल्ली की सरकारी स्कूल से पढ़ीं हैं। और भी कई प्रसिद्ध लोगों ने अपना अध्ययन सरकारी स्कूल में पूरा किया है। सन 1970 तक यह हाल था कि सरकारी स्कूल में प्रवेश के लिए मंत्रियों की सिफारिश लेकर आते थे। ये जो हमारे समाज का पूरा सांस्कृतिक ढांचा है वो कोलोनियल ढांचा है जिस पर जेएनयू के ही हिंदी विभाग के प्रो. नामवर सिंह ने एक लेख भी लिखा था। डीकोलोनाइजिन्स द माइंड। हमारे पूरे विचारों में ये जो intellectual fashion आता है कि हमारी सारी थ्योरी पश्चिम से ही आनी चाहिए। देरिदा, फूको की थ्योरी हम प्रयोग में लाएंगे लेकिन मुंशी प्रेमचन्द, गांधी जी आदि जो हमारे देश को ज्यादा अच्छे से समझते हैं उन्हें ही हम तवज्जो दे दें तो परिणाम बेहतर हो सकते हैं।

मेरा आखिरी सवाल यह है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए या नहीं?

मेरा मानना है कि हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में ऐलान ना ही हो

तो अच्छा रहेगा। इसकी बजाय यह राजभाषा या प्रचलित भाषा के नाम पर चलती रहे तो अच्छा ही होगा। इससे कोई इसका विरोध नहीं करेगा। जब हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाएगा तो जो अहिंदी प्रदेश के लोग हैं वे भी अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाने के लिए आगे आ जाएंगे। इसके पीछे वे कई तरह के तर्क भी देंगे और विवाद बढ़ जाएगा। इसलिए राष्ट्रवाद, भाषा, अस्मिता ये ऐसी चीजें हैं कि हम इनसे दूर ही रहें तो ठीक रहेगा। सही मायने में जितना बॉलीवुड ने हमें हिंदी भाषा के साथ बाँधा है शायद ही कोई सरकारी नीति होगी जिसने यह किया हो। हिंदी मीडिया के कारण भी हिंदी का काफी प्रचार हुआ है। जब मैं मणिपुर गई तब मैंने वहां देखा कि हिंदी के पोपुलर सीरियल की पूरी स्क्रिप्ट वहां के बड़े अखबार में मणिपुरी भाषा में लिखकर आती है। यदि हमारे मीडिया, टी.वी. के माध्यम से जो हिंदी कल्चर है उसका प्रचार होता है तो यह हिंदी भाषा के विस्तार का एक बहुत ही अच्छा प्रयास होगा। मेरा मानना है कि अपनी भाषा, अपने कल्चर से बच्चे में आत्मविश्वास बना रहता है। यदि इन सब प्रयासों से हिंदी खुद-ब-खुद इतनी प्रचारित हो जाएगी कि हमें इसे राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अलग से कोई कोशिश भी नहीं करनी पड़ेगी। लेकिन यदि हम बलवपूर्वक किसी पर हिंदी को थोपने की कोशिश करेंगे तो हिंदी का स्वाभाविक विकास कभी नहीं हो पाएगा। इसलिए इसको स्वाभाविक गति से आगे बढ़ाने हेतु कार्य किया जाए तो ज्यादा बेहतर परिणाम सामने आएंगे।

• प्रो. सौमित्र मुखर्जी (वैज्ञानिक)

राजभाषा, संपर्क भाषा तथा पठन-पाठन की भाषा के रूप में हिंदी की वर्तमान स्थिति?

जहां तक राजभाषा की बात है बहुत से लोगों को यह संशय है कि हिंदी राजभाषा है या राष्ट्रभाषा। मूलतः हिंदी राजभाषा है लेकिन इसे अधोषित राष्ट्रभाषा भी कह सकते हैं। पठन-पाठन के सन्दर्भ में बात करें तो यह बात सामने आती है कि विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, वाणिज्य आदि कई विषय ऐसे हैं जिनकी हिंदी शब्दावली में कोई अनुवाद ही नहीं है या अनुवाद भी तो बहुत कठिन है। इसलिए सबसे पहले जरूरत यह है कि हिंदी में एक उचित शब्दकोश हो जो अन्य विषयों के टर्म की भी जानकारी देता हो। इस शब्दकोश का प्रयोग कक्षा में पढ़ाने हेतु किया जाए। जैसे मैं विज्ञान के विषय को पढ़ाता हूँ। इसमें सारी पढ़ाई अंग्रेजी में होती है लेकिन क्लास के अन्त में मैं सार-संक्षेप हिंदी में भी समझाता हूँ। पठन-पाठन के रूप में हिंदी की स्थिति अभी भी ठीक नहीं है। उसका कारण हमारी 200 वर्षों की गुलामी है। हिंदी आने पर भी अपना परिचय अंग्रेजी में देना इसी गुलाम मानसिकता का उदाहरण है। सबसे पहले हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि हिंदी को ऐसी जगह पर लाया जाए कि लोग उसकी इज्जत करें, उसका सम्मान करें। उसके लिए यह किया जा सकता है कि विज्ञान में

जो कठिन से कठिन विषय हैं, उसमें जो मौलिक शोध-प्रबन्ध हिंदी में है उसको शुरू किया जाए। शोध-प्रबन्ध के लिए सबसे पहले जरूरत है कि उसमें जो सेमिनार-कांफ्रेंस वगैरह होते हैं उसका एक भाग हिंदी में हो। आज भी मैं देखता हूँ कि संस्थानों में हिंदी पखवाड़ा तो मनाया जाता है लेकिन उसके प्रमाण-पत्रों पर अधिकारियों के हस्ताक्षर अंग्रेजी में होते हैं। सबसे पहले जो सबसे ऊपर बैठा है उसको शुरुआत करनी होगी। जब यह हमारे देश की भाषा है तो उसको थोड़ा तो सम्मान मिले। हम देखते हैं कि हमारे संविधान में त्रिभाषाई सूत्र को महत्त्व दिया गया है जिसमें अंग्रेजी को मान लिया गया है कि अंग्रेजी तो होना ही होना है। दूसरी भाषा हिंदी है और तीसरी भाषा के स्थान पर लोग अपनी क्षेत्रीय भाषा (जैसे उड़िया, तेलगू आदि) को इस्तेमाल कर सकते हैं जोकि ठीक भी है। भाषाई समस्याओं का समाधान करने के लिए ही यह त्रिभाषा का फार्मूला अपनाया गया था।

आजादी के 60 वर्ष बाद भी आज यदि ज्ञान के क्षेत्र को देखें तो हिंदी में अच्छी पुस्तकें अंग्रेजी भाषा की तुलना में बहुत कम ही मिलती हैं। काफी लेखक हिंदी भाषी होने के बावजूद भी अंग्रेजी को प्राथमिकता देना पसंद करते हैं। माध्यम के कारण ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों की पहुंच सीमित ज्ञान में ही सिमट जाती है। इस हेतु सरकार की ओर से अनुवाद संबंधी कार्य भी पर्याप्त मात्रा में नहीं किए जा रहे। तो माध्यम के कारण जो ज्ञान आम-जन तक नहीं पहुंच पाता है उसके लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं?

इसके लिए सबसे पहले यह किया जा सकता है कि जो हिंदी भाषी लोग हैं वो हिंदी को इस तरह से प्रयोग में लाएं कि जो अहिंदी भाषी लोग हैं उन्हें भी इसे अपनाने में कुछ विरोध ना हो। इसी के साथ त्रिभाषाई शब्दकोश सभी पुस्तकालयों को दिया जाए। जिससे ज्ञान प्राप्त करने में भाषा संबंधी दिक्कतें ना आए। खासकर अहिंदी भाषी जो क्षेत्र हैं या जहां से हिंदी के प्रति कोई विरोध आता है हमें सबसे पहले वहाँ जाना होगा। वहां जाकर वहां हिंदी के प्रयोग को रोचक बनाना चाहिए। उस स्थान विशेष की जो लोक-कथाएं हैं उन्हें हिंदी में अनुदित करना चाहिए जिससे लोग हिंदी में पढ़ें और उससे लगाव महसूस कर सकें। (नीलमणी: इसके लिए यह भी जरूरी है कि हम भी अहिंदी प्रदेशों की भाषा सीखें इससे जो स्वाभाविक रूप में हिंदी का विकास होगा वह ज्यादा बेहतर है बजाय इसके कि हिंदी को अनिवार्यतः सीखने पर जोर दिया जाए) जी हां, बिलकुल हिंदी के विस्तार की स्वाभाविक प्रक्रिया हो तो ही अच्छा रहेगा। जैसे जेएनयू में ही जो ग्रेजुएशन के विद्यार्थी हैं उनमें कई हमारे यहां पर्यावरण विज्ञान वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ने आते हैं और हम लोग उन्हें बहुत अच्छे से जो बेसिक नॉलेज है वो देते हैं। मेरा मानना है कि उच्च शिक्षा में यूजीसी से ही हिंदी अनिवार्य रूप में लागू की जाए तब ज्यादा

बेहतर रहेगा और जो इसमें अच्छा प्रदर्शन करे उसे निश्चित रूप में प्रोत्साहन राशि या कोई इनाम दिया जाए ताकि विद्यार्थियों में इसके प्रति रुचि बढ़े। (नीलमणी: सर मेरा मानना यह है कि यदि दक्षिण में हिंदी अनिवार्य की जाए तो जरूरी है कि उत्तर भारत में दक्षिण भारत की भाषा को भी सीखना अनिवार्य किया जाए जिससे किसी भी प्रकार के विवाद से बचा जा सके) हाँ, यह बात बिलकुल ठीक है कि यदि हमें हिंदी का सम्मान करना है तो अन्य भाषाओं का भी सम्मान करना होगा। रही बात बदलाव की तो हर चीज बदलती है हर समय बदलता है। हमें भी बदलाव को स्वीकार करना चाहिए लेकिन अपनी मौलिकता नहीं खोनी चाहिए। विज्ञान या अन्य विषयों के बारे में भी मुझे यही कहना है कि हिंदी में लिखिए लेकिन उस मूल विषय की मौलिकता को बरकरार रखिए।

जिस प्रकार सरकार ने हर राज्य में केंद्रीय विश्वविद्यालय खोले हैं ठीक उसी प्रकार यदि हर क्षेत्र में अनुवाद की संस्था भी खोली जाएं जो किसी भी टेक्स्ट का हिंदी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद करें, तो इस कदम पर आपके क्या विचार है?

यह बहुत ही अच्छा और नया कदम होगा लेकिन आजकल गूगल पर यह अनुवाद संभव है। हालांकि उस अनुवाद में टेक्स्ट की मूल संवेदना चली जाती है यह भी सच है। मैं अपने विभाग में यह काम करता रहा हूँ कि सेमेस्टर एग्जाम में हिंदी में भी प्रश्न तैयार हों और जब में डीन बना तब मैंने यह सर्कुलर भी निकाला कि सभी टीचर अंग्रेजी के साथ हिंदी में भी पढ़ाए। हिंदी पखवाड़े के रूप में हिंदी-हिंदी करने से कुछ होने वाला नहीं है इसकी बजाय प्रक्रिया में जाना चाहिए।

हिंदी के भविष्य के बारे में आपकी क्या राय है?

देखिए मैं भाषा का कोई बहुत बड़ा जानकार या विद्वान तो हूँ नहीं, लेकिन जिस दिशा में हम जा रहे हैं उस स्थिति में उस परिप्रेक्ष्य में हिंदी का भविष्य कुछ अच्छा नहीं है लेकिन उसे अच्छा किया जा सकता है। हिंदी को आगे बढ़ाने के लिए उसमें कुछ मौलिक काम करना होगा न कि सिर्फ अनुवाद की ओर ध्यान देना होगा। जो मूल शोध हैं वे भी हिंदी में प्रकाशित हो उसमें शोधार्थी को प्रमाणिकता का कोई डर न हो, उसे हिंदी में स्वीकार किया जाए। हमें हिंदी लेखन को हर क्षेत्र में आगे बढ़ाना होगा। यह दायित्व सिर्फ हिंदी में शोध करने वालों का ही नहीं है बल्कि हिंदी को मन से चाहने वालों का भी है कि हिंदी में मौलिक कार्यों को बढ़ावा मिले। हिंदी को आम जन की भाषा बनाने के लिए हमें आम जन-जीवन की बातों को हिंदी में लिखना होगा उसे प्रचारित करना होगा। जैसाकि प्रेमचन्द ने अपने लेखन के माध्यम से किया। उनकी कहानियों जैसे गुल्ली-डंडा, बड़े भाई साहब को हम पढ़ेंगे तो इन कहानियों का परिप्रेक्ष्य एकदम साधारण है। इस तरह ही हिंदी में आज भी हमें अपने आसपास की चीजों को अभिव्यक्त

करना होगा, तभी हिंदी का विकास संभव है।

• प्रो. सोनाझरिया मिंज (वैज्ञानिक)

आज के समय में हिंदी एक संपर्क भाषा, राजभाषा एवं साहित्य की भाषा भी है। इस परिप्रेक्ष्य में हिंदी की वर्तमान स्थिति पर आपके क्या विचार हैं?

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हिंदी ही रही है। इसी क्रम में बी.एस.सी. (गणित) मैंने पढ़ा है लेकिन इस दौरान मैंने हिंदी विषय को भी पढ़ा है। हिंदी की वर्तमान दशा के बारे में मैं दो पहलुओं को ध्यान में रखते हुए अपने विचार रखना चाहूंगी इनमें से एक है इसका 'हिस्टोरिकल बैकग्राउंड' और दूसरा है इसका 'प्रोग्रेशन'। मेरा मानना है कि समय के साथ चीजें बदलती नहीं हैं बल्कि इवोल्व होती हैं और यह होना भी चाहिए। बदलाव किसी के लिए भी बहुत जरूरी है और इस बदलाव की भी एक बहुत धीमी परन्तु निरन्तर प्रक्रिया होती है। हिंदी भाषा में भी बदलाव की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से रही होगी। Historical Background और Progression की बात की जाए तो हम देखते हैं कि जो हमारी हिंदी की किताबें हैं उनकी भाषा और जो हमारे बोलचाल की भाषा है उनमें काफी अन्तर देखने को मिलता है। हमारी पढ़ाई की हिंदी में गद्य, पद्य, काव्यशास्त्र सभी होता है परन्तु हमारी बोलचाल की भाषा में वैसी हिंदी नहीं होती है जो हम पढ़ते हैं। बोलचाल की हिंदी में किसी स्थान विशेष की क्षेत्रीयता का प्रभाव भी पड़ता है इसलिए उसका स्वरूप हमें पढ़ाई की हिंदी से भिन्न दिखाई देता है। प्रशासनिक भाषा की बात की जाए तो हम देखते हैं कि प्रशासनिक हिंदी में कुछ इतने कठिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि उनको समझना भी मुश्किल हो जाता है। राजभाषा और राष्ट्रभाषा के स्वरूप को लेकर जो वाद-विवाद है उस पर हिंदी के विद्वान लोग विचार करें तो बेहतर होगा परन्तु मेरा इतना ही कहना है कि प्रशासनिक हिंदी या जिसे राजभाषा भी कह सकते हैं वह अत्यंत कठिन है।

मेरा विचार है कि जो हिंदी के पढ़ने-लिखने वाले हैं उनके लिए भी यह राजभाषा अत्यन्त कठिन हो जाती है तो जो हिंदी-पट्टी से इतर लोग हैं उनके समझने के लिए यह ज्यादा कठिन होगी ही। इसके पीछे एक कारण यह भी है कि जब बदलाव की बात आती है तो वह जितना स्वाभाविक होगा उतना ही उसमें अधिक स्थायित्व और सरलता भी होगी। बात चाहे राजभाषा की हो या राष्ट्रभाषा की एक दबाव के तहत उसे थोपना ठीक नहीं है। इसी दबाव का परिणाम है कि आज पढ़ाई की हिंदी, बोलचाल की हिंदी और कामकाज की हिंदी में इतना अन्तर है। आज यह जरूरी है कि जो बदलाव की प्रक्रिया है उसे स्वाभाविक रूप में आगे बढ़ने दें। इसके लिए एक प्रयास यह किया जा सकता है कि हिंदी को प्रचारित करके उसका व्यवहार ज्यादा से ज्यादा किया जाए तो अच्छा रहेगा यह मैंने महसूस किया है। यहां यह ध्यान रखना होगा

कि राजभाषा, पढ़ाई की भाषा और साहित्य की भाषा के बीच जो दरार है उसे उस मंजिल तक ले जाया जाए कि हिंदी के किसी भी स्वरूप को (विशेष रूप से प्रशासनिक हिंदी को) समझने में अड़चनें ना हो।

कंप्यूटर साइंस विषय में हिंदी की क्या उपयोगिता है? क्या कंप्यूटर साइंस को हिंदी माध्यम से पढ़ाया जा सकता है?

हमारे समय में कक्षा 8 से साइंस और आर्ट्स विषय की पढ़ाई अलग-अलग होती थी। उस समय हमारे अध्यापक हमें हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी की भी परिभाषाएं लिखवाते थे। इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि भविष्य में हमें अंग्रेजी समझने में कोई दिक्कत ना हो। फिजिक्स, केमिस्ट्री, बायोलॉजी में कुछ शब्द ऐसे होते थे जिनका हिंदी अनुवाद सम्भव नहीं था। इसके पीछे एक कारण यह भी है कि साइंस का विकास यदि गणित विषय को छोड़ दे तो भारत के बाहर ही हुआ है। साइंस भारत में पढ़ाया भी गया तो एक डिसिप्लिन के रूप में नहीं। भारत के बाहर से विकास के कारण सभी शब्दों का हिंदी अनुवाद निश्चित रूप से संभव नहीं है। इस सन्दर्भ में मेरा मानना है कि अभी तक जिस मिश्रित भाषा (हिंदी-अंग्रेजी साथ में) का प्रयोग कंप्यूटर साइंस विषय को पढ़ने-पढ़ाने में किया जा रहा है उसी माध्यम में इसकी पढ़ाई होती रहे यही सबसे बेहतर रहेगा। कुछ शब्द होते हैं जिनका अनुवाद नहीं किया जा सकता तो उसके स्थान पर एक नया शब्द डालकर हिंदी को समृद्ध बनाने की मुहिम अवश्य चलानी चाहिए। फिर भी पढ़ने वालों की दृष्टि से कुछ शब्दों का अनुवाद ना हो तो ही बेहतर होगा।

भाषायी अस्मिता के दौर में तथा राष्ट्रवाद से जुड़ी तमाम बहसों के बीच हिंदी का राष्ट्रभाषा, राजभाषा या संपर्क भाषा के रूप में क्या भविष्य है?

रांची से मद्रास होते हुए जब मैं दिल्ली आई तो यहां की हिंदी में काफी भिन्नता थी। यहां जो तू, तुम आदि शब्दों का प्रयोग होता है उससे मुझे हमेशा से आपत्ति रही है। या यूं कहूं कि इससे एक प्रकार का कल्चरल सॉक लगता है। इस हेतु में किसी आचार संहिता का समर्थन नहीं करती परन्तु फिर भी भाषा के स्वरूप कुछ इस तरह का होना चाहिए की सामने वाला आहत ना हो या जो सुने उसे कल्चरल सॉक ना लगे। इस कल्चरल सॉक को समाप्त करने के लिए मैं उन लोगों को जो हिंदी को आगे ले जाना चाहते हैं एक जिम्मेदारी देना चाहती हूँ कि कुछ ऐसा लिखा जाए या प्रचारित किया जाए जिससे हमें कल्चरल सॉक आवजर्बर्ब के रूप में सहायता मिल सके और व्यावहारिक रूप में इससे कोई आहत भी नहीं हो। इसलिए हिंदी को इतना सहज बनाना आवश्यक है कि वह कल्चरल सॉक आवजर्बर्ब की भूमिका निभा सके। इसके साथ यह भी प्रयास करना चाहिए कि हमारे पाठ्यक्रम में भी ऐसा हो कि हम दूसरे के कल्चर को भी जानें जिससे हम निर्धारित क्षेत्र

के बारे में वहां की भाषा, रहन-सहन आदि के बारे में सामान्य जानकारी रख सकें। इसी के साथ अभद्र शब्दों का प्रयोग पूर्णतया निषिद्ध होना चाहिए। यही मेरी मान्यता है।

• **प्रो. राकेश कुमार त्यागी (वैज्ञानिक)**

मैंने कक्षा 12 तक हिंदी पढ़ी है। उस दौरान मुझे निबंध लेखन में पुरस्कार भी मिला था। इस तरह से आरम्भ से ही मेरी हिंदी में रुचि रही है। उन दिनों भी मैं प्रेमचन्द आदि लेखकों को पढ़ा करता था। देहरादून से पढ़ने के बाद मैं शान्ति निकेतन आ गया जिससे विज्ञान और हिंदी दोनों को अच्छे से पढ़ सकूँ। शान्ति-निकेतन में मैंने साहित्य बहुत पढ़ा। इसी के साथ संगीत, चित्रकला एवं स्थापत्य के बारे में भी बखूबी जाना। इस दौरान मेरा विज्ञान में भी पर्फॉर्मस अच्छा ही रहा और मैंने कविता लिखना भी शुरू किया। इस तरह का माहौल मुझे मिला और आज भी मेरे घर पर हिंदी की बहुत सारी किताबें आपको मिलेंगी। मेरा मानना है कि आज के समय में हिंदी के पाठकों की संख्या पहले की तुलना में बढ़ी ही है। मुझे लगता है कि किसी भी भाषा में पढ़ाई की जाए लेकिन मातृभाषा का अपना एक अलग ही महत्त्व होता है। वो अधिक गहराई में जाती है। मुझे भी यही लगता है कि जितना प्रयास मुझे अंग्रेजी भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त करने में करना पड़ता है हिंदी में ऐसा नहीं होता है। इसमें विचार खुद-ब-खुद अभिव्यक्त होने लगते हैं। मातृभाषा (हिंदी) मेरे लिए एक अलग ताकत की तरह है।

आज के समय में हिंदी एक और साहित्य की भाषा है, उत्तर भारत में सम्पर्क भाषा है, राजभाषा के रूप में भी प्रयोग की जा रही है। इन सभी पहलुओं को देखते हुए हिंदी की वर्तमान स्थिति के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे?

जहां तक भाषा की बात है मुझे लगता है हिंदी भाषा तो बहुत ही अच्छी है कुछ शब्द होते हैं जिन्हें आप हिंदी में बड़ी आसानी से बोल सकते हैं जोकि अन्य भाषाओं में बोलना सम्भव नहीं है जैसे-सड़क, गड़बड़ आदि। यह जो ध्वनि को पकड़ने की ताकत हिंदी में है वह इसे और मजबूती प्रदान करती है। हिंदी भाषा ध्वन्यात्मक बहुत मजबूत भाषा है। जहां तक अंग्रेजी भाषा की बात है तो इसके बारे में मैं कहना चाहूँगा कि यह बहुत फैल गई है इस वजह से लोग इसमें सहज हो गए हैं और इस सहज क्षेत्र जोन की वजह से केवल हिंदी ही नहीं कई भाषाएं पीछे छूट गई हैं। हिंदी का अस्तित्व तो फिर भी बचा हुआ है। अंग्रेजी का विस्तार बहुत क्षेत्र में है जबकि हिंदी का विस्तार कुछ हिन्दुस्तान में उसमें भी उत्तर भारत में और थोड़ा बहुत बाहर विदेश में बस इतना ही है। जब तक हिंदी फैलेगी नहीं तब तक अंग्रेजी का ही आधिपत्य रहेगा। हमारे विज्ञान विषय पूरी तरह से अंग्रेजी के प्रभाव से युक्त हैं। परन्तु फिर भी आम जन की भाषा की बात की जाए तो हिंदी भाषा इतनी कम लोकप्रिय नहीं है। बोलचाल की

हिंदी की विस्तार देने में बॉलीवुड की अहम् भूमिका रही है। बोलने वाली हिंदी अपने आप में काफी स्थिर है। जब पढ़ने वाली हिंदी की बात आती है तो हम देखते हैं कि अंग्रेजी के जो अखबार हैं उनकी गुणवत्ता हिंदी के अखबारों की तुलना में कहीं ज्यादा बेहतर होती है। खबरों का जो कन्टेन्ट होता है वह भी हिंदी के अखबारों से बेहतर ही होता है। इसके लिए जो लोग हिंदी में लिखते-पढ़ते हैं उन्हें गुणवत्ता बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। हालांकि हिंदी की कई पत्रिकाएं भी हैं जो काफी अच्छी हैं और कुछ पत्रिकाएँ तो मैं लेता भी हूँ। इस तरह से हिंदी भाषा के विस्तार के लिए गुणवत्ता और शब्दावली दोनों पर ध्यान देना होगा। फिर भी मैं कहना चाहूँगा कि हिंदी की स्थिति पहले की तुलना में बेहतर ही हुई है।

विज्ञान के क्षेत्र में जैसे मोलिक्यूलर साइंस हुआ या विज्ञान का कोई भी विषय हुआ इनकी शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी का प्रयोग करना कहाँ तक सफल हो सकता है?

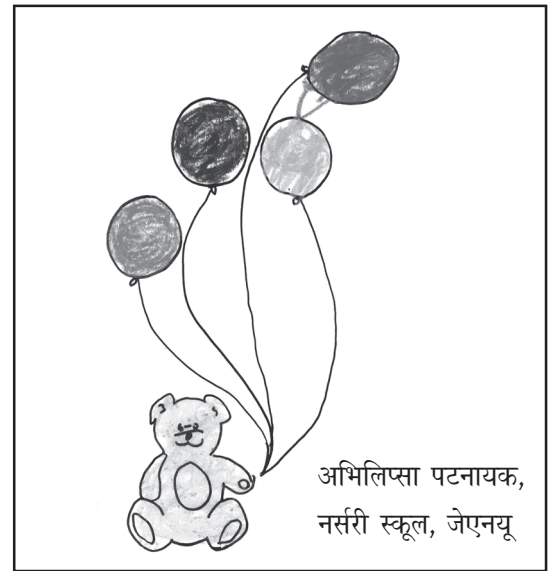
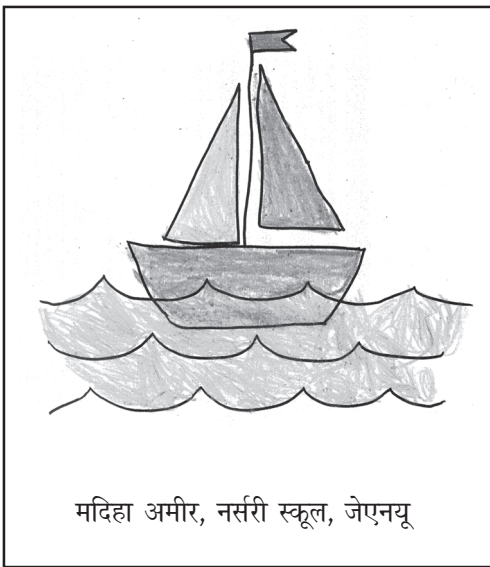
देखिए, जब हम विज्ञान की बात करते हैं तो हम तकनीकी क्षेत्र में आ जाते हैं और इस क्षेत्र की अपनी एक अलग vocabulary होती है जिसका अनुवाद संभव नहीं होता है। ये शब्द साधारण नहीं होते हैं और साधारण ना होने की वजह से ये साधारण लोगों के बीच भी नहीं आ पाते हैं। सिर्फ साइंस वालों के बीच ही रहते हैं। जैसे मेरे सामने यह लिखा है। एडवांस इन्स्ट्रुमेंटेशन रिसर्च फैसिलिटी में इसका डायरेक्टर हूँ लेकिन जब मैंने इसका हिंदी अनुवाद जाना तो वह इस तरह था 'उच्च यंत्रीकरण शोध सुविधा' अब आप अंग्रेजी वाला बोलना पसन्द करेंगे कि हिंदी वाला। इससे यह जाहिर होता है कि अंग्रेजी में हमारा सहज क्षेत्र तैयार हो गया है। विज्ञान में हिंदी के प्रयोग के साथ समस्या यह है कि या तो इसके कोश हिंदी में तैयार नहीं है और तैयार है भी तो वो बोलने में, समझने में, उच्चारण करने में थोड़ी सी मुश्किल होती है। हम देखते हैं कि जो कुछ विज्ञान की टेक्स्ट बुक हिंदी में हैं भी तो उनमें कुछ शब्द अंग्रेजी के ही रखे गए हैं मुझे यह ठीक लगता है। जैसे धर्म, गुरु आदि शब्द हैं तो हिंदी के लेकिन ये अंग्रेजी में भी प्रयुक्त होते हैं। तो ऐसा नहीं है कि लोग पढ़ते नहीं हैं। विज्ञान में भी लोग हिंदी की किताबें पढ़ते हैं। हिंदी वाले बच्चे भी पढ़ाई में अच्छे होते हैं। जेएनयू में हिंदी माध्यम से आते हैं और यहां आकर अच्छा परिणाम भी देते हैं। तो यहां जरूरत यह है कि कोई ऐसी हाइब्रिड लैंग्वेज बनाई जाए जिसमें विज्ञान के टेक्निकल टर्म जैसे के जैसे ही प्रयोग किए जा सकें। ऐसा प्रयास ज्यादा अच्छा रहेगा। साइंस एक तरह से वैश्विक हो गई है और वैश्विक होने की वजह से इसको एक भाषा ने कैप्चर कर लिया है। अब ये भाषा सबको अडॉप्ट करनी पड़ रही है। यदि हमें हिंदी का इस्तेमाल करना है तो शब्दों को लेकर कुछ उदार होना पड़ेगा। जैसे अंग्रेजी ने भी कई अन्य भाषाओं के शब्दों को अपनाया हुआ है जैसे ही हिंदी को भी अन्य भाषा के शब्दों के प्रति उदारता रखनी पड़ेगी तभी बेहतर परिणाम हम देख पाएंगे। हिंदी में भी कुछ ऐसे शब्द

लेने होंगे जो इसमें बैठ जाएँ जैसे माला में मोती बैठ जाते हैं। लेकिन यदि कठिन शब्दों का प्रयोग किया जाएगा तो हिंदी से लोग दूरी बनाएंगे। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा में आपको टेक्निकल शब्दकोश का प्रयोग करना पड़ेगा। इसके लिए हमें या तो टर्मिनोलॉजी को पॉपुलर किया जाए या फिर जो पहले से पॉपुलर है उसका प्रयोग किया जाए तो अच्छा प्रयास हो सकता है। जहां तक कई भाषाओं का सवाल है तो मेरा मानना है कि हिन्दुस्तानी एक बेहतर विकल्प के रूप में सामने आती है। मेरा मानना यही है कि किसी भी प्रकार से भाषा को थोपने करने की बजाय उसमें रूचि विकसित करना ज्यादा जरूरी है।

भाषा के रूप में हिंदी का क्या भविष्य है?

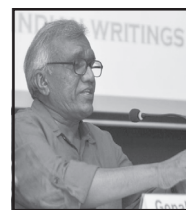
मेरा मानना है कि भाषा के रूप में हिंदी के भविष्य को लेकर कोई खतरा नहीं है। रही बात पाठकों की संख्या की तो उसमें भी मैंने देखा है कि लोग हिंदी की किताबें बहुत खरीदते हैं। भविष्य को कोई खतरा नहीं है। हमारे पास साहित्य है, कविताएं हैं, गाने हैं हालांकि माना हमारे पास आज प्रेमचन्द या यशपाल नहीं हैं। फिर भी अभी काफी अच्छा लेखन हिंदी में किया जा रहा है। रही बात अच्छे लेखकों की तो वे भी एक विशेष समय की देन होते हैं। साहित्य अपनी जगह बहुत सुगढ़ है। मेरे ख्याल से इसके भविष्य को कोई खतरा नहीं है। हो सकता है कि कोई भाषा इतनी बढ़ जाए तो यह पीछे छूट सकती है बाकी हिंदी अपने आप में बहुत मजबूत भाषा है इसमें कोई सन्देह नहीं है। बॉलीवुड में आज भी स्क्रिप्ट हिंदी में लिखी जाती हैं। जावेद गुलजार काफी स्वीकृत व्यक्तित्व हैं। प्रेमचन्द के भी पूरे वॉल्यूम आ गए हैं। मुझे लगता है कि पढ़ने वाले तो बहुत हैं बस ये आदत अब छूटनी नहीं

चाहिए। (नीलमणी भारती: सर, जहां तक छूटने की बात है तो हिंदी के विकास और प्रचार के लिए जितने सरकारी प्रयास किए गए हैं उतने शायद ही किसी भाषा के लिए किए गए होंगे। इसे राजभाषा का दर्जा भी दिया गया है।) हां यही बात है कि हिंदी की जरूरत और रूचि दोनों होनी चाहिए तब जाकर यह जल्दी-जल्दी बढ़ेगी। लेकिन अगर आपके पास सुविधाजनक विकल्प उपलब्ध होता है तो फिर हम हिंदी सीखने के लिए कोशिश करना छोड़ देते हैं। राजभाषा के तौर पर हम सिर्फ हिंदी का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। जैसे एक बार मैं त्रिवेन्द्रम (त्रिची) में था। वहां सी.एस.आई. आर. से हिंदी में एक चिट्ठी गई वो तमिलियन थे। वो चिट्ठी देखकर खड़े हो गए। उनको समझ में ही नहीं आ रहा था कि इसमें क्या लिखा है। तो यह एक जबरदस्ती करने वाली बात हो जाती है। इससे फिर रिवोल्ट होने लगता है इसकी बजाय रूचि विकसित की जाए तो ज्यादा बेहतर होगा। कई जगह विरोध होता है लेकिन इतना नहीं है। विरोध होता नहीं है पैदा किया जाता है ठीक उसी तरह से जैसे दंगे होते नहीं हैं करवाए जाते हैं। हिंदी का कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता है जब आप किसी को tease करते हैं किसी को tease नहीं करना चाहिए। भाषा को सही में जानना है तो उसे उसके वास्तविक रूप में ही समझने का प्रयास करना चाहिए। मैं खुद बहुत हिंदी पढ़ता हूँ। हां हिंदी को आगे बढ़ाने में बॉलीवुड की बहुत बड़ी भूमिका रही है। टी.वी. चैनल्स भी एक भाषा को जन्म दे रहे हैं जो मेरे ख्याल से स्वीकार्य होगी। यहां यही बात है कि जब कम्फर्ट जोन आ जाता है तो लोग भाषा को जल्दी ही अपना लेते हैं। यही हिंदी भाषा के लिए भी करना होगा।



भारत में सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान की परिस्थिति

प्रोफेसर गोपाल गुरु



जाने-माने समाजशास्त्री प्रो. गोपाल गुरु, जेएनयू में राजनीति शास्त्र के शिक्षक हैं। यहाँ प्रस्तुत है नीलम करकेटा की उनसे बातचीत।

भारत में सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान की स्थिति के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे?

यहाँ सामाजिक विज्ञान रिसर्च में आलोचनात्मकता गायब होती जा रही है। यहाँ की दूसरी समस्या सामाजिक विज्ञान में रिसर्च का प्रांतीयकरण है, जोकि सामाजिक विज्ञान में आलोचनापूर्ण कल्पना के लोकतंत्रीकरण के लिए घातक है। एक समय था जब यहाँ के अधिकतर बुद्धिजीवी (विशेषकर जेएनयू की संकाय) हार्वर्ड और ऑक्सफोर्ड जैसे संस्थानों में जाना चाहते थे, अभी वही प्रवृत्ति देश के अंदर ही दिखाई देती है। आज सभी लोग (यहां तक कि जो प्रांतीय विषयों में विशेषज्ञ हैं) मेट्रोपोलिटन सिटीज के गिने चुने संस्थानों में ही आना चाहते हैं। बेहतर रिसर्च के लिए ऐसा केन्द्रीकरण अच्छा नहीं है। केन्द्रीकरण के बजाय आज विस्तारीकरण की जरूरत है।

भारत में सामाजिक विज्ञान में बेहतर रिसर्च के लिए क्या किया जाना चाहिए?

इसके लिए कुछ और युनिवर्सिटी लाने से ज्यादा जरूरी है शिक्षण केंद्रों का विकेन्द्रीकरण। एक बेहतर रिसर्च की लिए जरूरी ये है कि बुद्धिजीवी वर्ग आम जनता के साथ गंभीर बौद्धिक वार्तालाप (engagement) शुरू करें। आज सिद्धांतों और जमीनी हकीकत के बीच का फर्क बढ़ता जा रहा है, क्योंकि समाजशास्त्री आम जनता (और विशेषकर जो आंदोलनों से जुड़े हैं) के पास मौजूद समालोचनात्मक समझ से सीखने को प्रेरित नहीं हैं। आज किसी भी समाजशास्त्री का लेख आम जनता के संघर्ष से अधिकृत होना चाहिए, और समाजशास्त्रियों की हर शैक्षिक लेख पर सामाजिक बौद्धिकीय चौकसी का होना जरूरी है।

बौद्धिक सृजन के इस कार्य में आम जनता के साथ एक साथ कैसे काम किया जाए, और कैसे रिसर्च की क्वालिटी बढ़ाई जाए?

आम जनता के साथ जमीनी स्तर पर काम करने के बजाय हम प्रायः उन्हें रोमांटिसाइज कर गए हैं। पहले ये बंद होना चाहिए। हमें अभी स्थानीय भाषाओं में आम जनता के लिए अधिकाधिक लिखने की शुरुआत करनी चाहिए। आज तक एक मेट्रोपोलिटन लेखक अन्य मेट्रोपोलिटन पाठक के लिए ही लिखता रहा है। एक अच्छे बौद्धिक समाज के निर्माण के लिए इस प्रवृत्ति का बदलना अनिवार्य है। आम जनता मूर्ख नहीं है, वे भी बौद्धिक कार्यों को करने की क्षमता रखते हैं। वे बौद्धिक काम इसलिए नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि वे अपनी जीविका के लिए काम करने में ही सारा समय दे जाते हैं। हमें इन दो चीजों पे काम करने की जरूरत है: कि कैसे हम आम जनता को बौद्धिक कार्यों में जुड़ने (engage) के लिए एक तंत्र (mechanism) तैयार करें और दूसरी ओर एक ऐसा मैकेनिज्म तैयार करें कि जनता हमारे लेख और प्रलेख पर

नियमित नजर रख सके। हमें ये भी पुनः याद रखने की जरूरत है कि आम जनता के पास ज्ञान का भंडार है। आदिवासी समाज को ही देख लीजिए उनके सामाजिक संरचनाओं, समाज को चलाने के तरीकों, उनके गीतों, और प्रकृति के सम्बद्ध में उनके पास ज्ञान की एक अनोखी विरासत है। हमें जनसाधारण के पास वापस जाकर उनसे सीखने की भी जरूरत है। उत्तर-संरचनावादियों पर मुझे बहुत कम भरोसा है, क्योंकि वे बिना समझे सबाल्टर्न की सारी चीजों को रोमांटिसाइज कर जाते हैं।

फिर हम समाज में भला-बुरा का माप कैसे करेंगे? इसका अभिरक्षक कौन होगा?

अच्छाई और बुराई का अधिकतर मापदंड समाज में पहले से तय है। विस्थापन, दहेज-प्रथा, छुआछूत, गरीबी ये सब गलत हैं। ये सभी को पता है। हमें हर समय तात्त्विक सिद्धांत निर्माण करने की जरूरत नहीं है।

भीकू पारेख ने भारतीय राजनैतिक सिद्धांतों की निर्धनता की बात कही थी। क्या हम उस निर्धनता से उबर पाए हैं?

एक मजबूत भारतीय राजनैतिक सिद्धांतों के निर्माण के लिए हमें स्थानीय (लोकल) तथ्यों पर वापस आने की जरूरत है। हमारे देश में ही स्थानीय संसाधनों की कमी नहीं है, जैसे अंबेडकर, फुले, बुद्ध जैसे विचारक को हमें गंभीरता की जरूरत है। इसका मतलब यह नहीं कि हम बाहर से सीखना बंद कर दें। दिक्कत तब होती है दूसरों की तुलना में अपने आपको देखना शुरू करते हैं। हमें जनभाषा (vernacular) के इतिहास में झाँकने की जरूरत है। जैसे कि हमें अपने देश के आदिवासी इतिहास को झाँकना है और देखना है हम वहाँ से कितना कुछ सीख सकते हैं। सिद्धांतों के क्षेत्र में हमें बहुत ही ज्यादा काम की जरूरत है। हमारे पास राष्ट्र, नागरिकता, प्रदूषण, हिंसा, के अच्छे खासे सिद्धांतवाद हैं पर प्रदूषण (contamination) और क्रूरता के वाद पर हमने पर्याप्त काम नहीं किया है। इन पर ध्यान देने की जरूरत है।

जेएनयू और सीपीएस (राजनीतिक अध्ययन केंद्र) महत्वपूर्ण वाद विवादों को सामने लाने का एक केंद्र रहा है। आज के दौर में इनकी क्या भूमिका हो सकती है?

इसके लिए जरूरी है कि हम उन विषयों पर गंभीर चर्चा करते रहें जो समाज के सन्दर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। और वो चर्चा स्वगत (monological) नहीं पर संवादात्मक (dialogical) होनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि प्रोफेसरस एक दूसरे के लेखों को पढ़ें, उन पर चर्चा करें और समालोचना करें, जैसेकि अमेरिका जैसे राज्यों में होता है। हमें एक दूसरे की कमियों से सीखने और उन्हें सुधारने की जरूरत है। वरना हमारे पास सिद्धांत निर्माण का कोई भविष्य नहीं होगा। हमें “वास्तविक” होने का दावा करने की आदतों को भी त्याग देने की जरूरत है।

दूसरा कमरा

एजाजुल हक



जैसे बारिश कह रही हो 'आज छोड़ कल नहीं'- छप्पनों कोटि बारिश!... उस खपरैल के एक-एक खपरे से बूँदें टपकने लगी थीं। बात केवल बारिश तक होती तो उतना दुखद नहीं था, साथ-साथ आँधी भी थी! आँधी हर झोंके के साथ दरवाजे पर ताकत दिखा देना चाहती थी मगर दरवाजे में इतनी शर्म बाकी थी कि वह धक्के खाकर भी नहीं टूटता था। टपकती बूँदों से बचने के लिए कमरे का कोना-कोना छान मारा गया था। पहले तो कीचड़ के डर से बूँदों को बर्तन में कैद किया जाता रहा और खीझ-खीझकर कमरे की चौहद्दी से बाहर फेंका जाता रहा मगर ज्यादा वक्त नहीं बीता होगा कि यह काम भी निरर्थक जान पड़ने लगा। जितनी बूँदें बर्तन में कैद होती थीं उससे ज्यादा मिट्टी को कीचड़ बनाने के लिए बिखर जाती थीं।

हलीम दुधमुँहें बच्चे को गोद में थामे था। पत्नी सलवार ऊपर चढ़ाए अगल-बगल की हल्की धँसी जमीन में इकट्ठे पानी को अंजुली में समेट कर देगची के हवाले कर देती थी। भरी देगची दरवाजे के बाहर लुढ़काती और दरवाजे की कुंडी को पहले जैसी मजबूती दे देती। कमरे में हलीम की बूढ़ी अम्मा भी थी जो 'अल्लाह रहम-अल्लाह रहम' की गुहार में गला फाड़े जा रही थी। एक कोने में बकरी अपने दो बच्चों के साथ मिमिया रही थी बिल्कुल प्रसव पीड़ा सरीखे! बारिश ने साँझ से ही फुर्सत नहीं दी थी कि दोनों को दूध पिला सके। बच्चे जब भी उसकी टाँगों में घुसते थे वह लात मारती उचकती।

'इ सवतिया को बाहर करो... कब से डकरे जा रही।' अम्मा ने हलीम को उकसाया था बकरी पर सारा खीझ उतार लेने के लिए, मगर हलीम गोद में रोते बच्चे को मनाने लगा था। थोड़ी देर पहले उसने ऐसी कोशिश की भी थी मगर घसीटने की मेंमियाहट से गोद का बच्चा रोने लगा था तो छोड़ दिया...

'बुढ़वा ने तो डुबो दिया- उसकी मति फिर गई!... अब तो घराड़ी भी हाथ से गई समझो!' अम्मा संभल-संभलकर बोलना चाह रही थी क्योंकि थोड़ी देर पहले ही चुप बने रहने की डाँट सुन चुकी थी।

गोद का बच्चा जब रोते-रोते साँस पकड़ लेता था तब उसे पत्नी के हवाले कर दिया जाता था। पत्नी चुप कराने के लिए बच्चे के मुँह में जबरन स्तन ठूस देती थी। बच्चा औंजिया कर और साँस पकड़ लेता था। 'लगता है पूरी रात ऐसे ही चलेगा' हलीम ने बच्चा पत्नी को थमाते हुए बोला। उसे जवाब मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी इसलिए बिना वक्त गँवाए अगला वाक्य भी

पूरा किया - 'टह-टह अन्हरिया, बिजली-उजली गिर जाए तो कोई मदद को भी नहीं आएगा।'

पत्नी भावी दुर्दशा का अनुमान कर देर तक सिसक चुकी थी और इसका जिम्मेदार मानना किसी को तय नहीं कर पायी थी मगर कुपित पति पर ही थी।

खपरैल के सामने आँगल था जहाँ छोटी-सी छप्पर के नीचे खाना बनता था। उसके बगल में दो पक्के कमरे थे जहाँ कल तक आने-जाने की कोई मनाही नहीं थी। एक कमरे में हलीम के बड़े भाई का परिवार आँधी-पानी की परवाह किए बिना ऊँघ रहा था। दूसरे कमरे में एक बड़ा-सा ताला लटका दिया गया था ताकि उसे तोड़ने की आवाज कानों में पड़ जाए। देगची का पानी लुढ़काने के वक्त आदमी कभी-कभी कछुए की तरह गर्दन निकालकर अब तक ताला खुल जाने की आहट टटोलने की निष्फल कोशिश कर लेता था। उसे पत्नी की खीझ से बचनी थी इसलिए वह बादल या जोरों की वर्षा देखने के बहाने ही गर्दन निकालता था।

पत्नी को जब भी जेठ-जिठानी के आगे एक न चलने का एहसास होता वह पति पर बरस पड़ती थी - 'बाप की जिंदगी में भसूर की चलती!... खस्सी का एक परचा भी नसीब होता हमें! चूल्हे पे जल-जलकर बनाए हम और हमीं महक-महक कर लार टपकाते रहें। तिस पर भी ये हुकूम कि तैयार होते आवाज देना-खुद तो पड़े-पड़े खटिया तोड़े और जाकर परोस आऊँ!- फिर तरकारी तो है ही हम सबके लिए! मैं ना सही, पूत-भतार खा ले तो जी जुड़ा जाए... कमाई साझे में, खान-पान अलग-अलग...

कितना दिन चलेगा घर! 'खिड़की-दरवाजे' बंद करने के बाद भी पत्नी की आवाज ऊँची नहीं होती थी।

'गजब करती हो। भैया सुने तो आफत आ जाए- जो जवानी में तरस बनी रही उसे पूरा कर रहे हैं। हमें भोगने के लिए तो पूरी जिंदगी पड़ी ही है।'

'पूरी जिंदगी!.. दाने-दाने को तरसकर पूरी जिंदगी कौन जी पाएगा भला!... जेठ-सरदार हैं खाएँ-पीएँ गौंठ बँधने वाली बात नहीं लेकिन बाप भी तो जीते हैं, उनकी पूछ होती... उनकी तरस कब पूरी होगी कबर में... माई-बाप सभी जानते हैं कि माधोपुरवाले बाजार के दिन आँगन में खस्सी की गमक होती है मगर है मजाल कि टोकें, रूखा-सूखा आँख-मुँह बंद करके चबाने के अलावा?.. पेट-तन काट-काटकर महला-दोमहला पिटवाना भाई-भौजाई के ही काम आएगा, गलत हो जाऊँ तो राख लगाकर जीभ खींच लेना।'

हलीम कलह के डर से पत्नी को चुप कराने की जुगत में लगा रहता था। बड़े भाई कपड़े की फेरी लगाते थे। आमदनी अच्छी थी। हलीम का रोजगार नियम नहीं था गर्मी के दिनों में आइसक्रीम बेचना, बरसात में सब्जी और जाड़े में दिहाड़ी मजदूरी जैसे दर्जनों पेशा। उसकी कमाई से घरखर्चा चलता और बड़े भाई की कमाई तब तक इकट्ठी की जाती जब तक कि किसी जरूरतमंद की जमीन-जायदाद नजर पर न चढ़ जाए। हालाँकि रजिस्ट्री कराने के लिए कर्जा-पैचा लेना पड़ ही जाता। कर्ज उतरने तक पर्व-त्यौहार में भी रूखा-सूखा से ज्यादा किसी को नसीब नहीं होता। उस वक्त सबसे ज्यादा बोझ आदमी पर ही रहता क्योंकि खरीदकर खाने वाली सारी चीजें गेहूँ-चावल से लेकर मक्के-बाजरे तक आइसक्रीम के बदले बटोरने के लिए साँझ तक गाँव-गाँव का चक्कर लगाना पड़ता था।

तीन कमरे वाले इस मकान में खपरैल और एक पक्का कमरा साझे में था जबकि ताला जड़ा हुआ कमरा भाई की कमाई से खड़ा था जिसे भाई-भौजाई के अलावा सारे लोग साझे में ही समझते थे। बँटवारे से पहले ही भाई ने उस कमरे को इधर-उधर की चीजों से भरना शुरू कर दिया था। जिन चीजों को कबाड़खाने में भी धकियाकर परे ठेल देने की पूरी संभावना थी उनसे भी कमरा पटा पड़ा था। खपरैल की मरम्मत का आश्वासन जब पूरा नहीं हुआ तो हलीम ने दहेजू पलंग ले जाकर उसमें कस दिया था। कमरे के सामान से आँगन के एक कोने में ढेर बनाकर उसे त्रिपाल से ढँककर अगले दिन खपरैल में रखने के लिए फुर्सत ले ली गई थी। भाई-भौजाई किसी दूर के रिश्तेदार के यहाँ शादी में गए थे। उनकी मौजूदगी में कमरे में पलंग कसने का दुस्साहस करना संभव नहीं था। इसलिए मौका हाथ लगते इसे अंजाम दिया गया था। हालाँकि पत्नी दुल्हन बनकर उसी कमरे में उतरी थी। चार महीने भी नहीं गुजरे होंगे कि प्लास्टर करने के बहाने कमरा खाली करा लिया गया था और कई महीने बीतने के बाद भी उसे प्लास्टर कराने के बजाए उसमें सामान भर दिया गया था जिसमें बड़े भाई को दहेज में मिले पलंग-कुर्सी से लेकर मेज तक था, जिनका टूटने के बाद भी इस्तेमाल करके दहेज की लकड़ी से खाना न बनाने के सैद्धांतिक आग्रह के बहाने अब सड़ने के लिए छोड़ दिया गया था।

‘भैया, बंदर खपरे पर कूद-कूदकर सारा भुरकस निकाल दिए हैं।... ओरी के पानी से भी ज्यादा चूता है खपरा। किवाड़ी का हाल तो देख ही रहे हैं, बंद करने के बाद भी दो फाँक बाए रहता हैं। कब तक चढ़ेगा गारा?’ एक दिन हलीम ने टोका था।

‘उसने पहले खपरा छवा दूँगा, जना-मजदूरा को बोल दिया हूँ... अठकठवा का आम पूरा लचक गया है, बच्चे मोजर तक झाड़ लेते हैं। जब टिकोले की भी तरस बनी रहती है तो कटा दूँगा। इसी बहाने किवाड़ी भी बन जाएगी।’

‘लेकिन कमरे में गारा...’

‘बाद में देखा जाएगा। हिसाब-किताब लगाकर देख लिया, उतने में आधा भी नहीं निपटेगा... महँगाई है ना? आज के जुग में एक कमरे की नींव खोदना भी जलसे के पैसे झोंकने के समान हैं।... पलंग-कुर्सी इधर-उधर मारे-माने फिरते थे, अब जाकर हिफाजत हो पाएगी दहेजू है, बचाना तो पड़ेगा ही... अम्मा का पिछले साल तक पड़े-पड़े घुनता रहा मगर चूल्हे में झोंकना कभी मंजूर ही नहीं हुआ। घूम-फिरकर नजर भर घूर लेती थी, इतनी चिंता तो नए के सड़ने-गलने की भी नहीं रहती।... कुर्सी-पलंग की बला टलने तक गुजर-बसर के लिए खपरैल तो है ही। उसी को पक्के से बेहतर बनवा दूँगा।’

मगर बेहतर बनवाने की न तो आज तक पहल की गई थी न ही दहेजू पलंग सड़ने का नाम ले रहे थे। हालाँकि कहने वाले तो यहाँ तक कह सकते थे कि अब सड़ने के लिए और बचा ही क्या था? खादर पर सप्ताह भर छोड़ दिया जाए तो डेढ़-दो टोकरी खादर के लिए बाजार का रूख करने से बचा जा सकता था।

अब उस कमरे को बंद करके रखा जाने लगा था। हलीम जब भी कोई सामान रखने जाता, किसी-न-किसी बहाने उसके हाथ से लेकर खुद से रख दिया जाता। धीरे-धीरे वह उस कमरे में दाखिल होने से बचने का अभ्यस्त होता जा रहा था। अब सामान रखने के लिए उन्हीं हाथों में थमा देता था जो हाथ उस एकाधिकार के लिए झपट्टा मार लिया करते थे।

उस दिन पत्नी के बार-बार जिद करने के बाद ही वह बोझिल पाँव कमरे के रूख को विवश हुआ था। उसने आशंका भी जतायी थी ‘भैया गुस्साएंगे कि पीठ पीछे कमरे पे कब्जा जमा लिया... सामने खड़े होने पे, बात दूसरी है।’

‘तो अब तक क्या सामने होने की सुध ही नहीं जगी थी..’

‘मुँह फुलाएँ अपनी बला से... भाई-बाप ने खपरैल देखकर ब्याह? नहीं किया था। दो पक्के कमरे में एक-एक का हिसाब लगाकर कराए थे।... बरसात भर जिसे मछली पकड़नी हो वो खपरैल से नेह लगाए, हम तो भई मछुआरे के खानदान से नहीं!’ ओढ़नी से कमर बाँधी पत्नी ने झाड़ू से मकड़ी का जाल साफ करते हुए तुनक कर जवाब दिया था। उसने फिर से साफ-सफाई में कमर कर ली थी।

‘आज सफाई तक रहने देते हैं, कल मान-मनौवल करके पलंग भी लगा लेंगे।’

‘मानना ही होता तो यों बहाने बनाकर खपरैल में धकेला नहीं जाता... अपनी आँख में भी लाज होती है एक के लिए महला-दोमहला दूसरे को झोपड़ी की भी तरस!... कोई कम कमाता है कोई ज्यादा, जब साझ में हैं तो सब चीज में बराबर का हिस्सा।’

...पति कम कमाते हैं तो इसकी भरपाई लौंडी की तरह खटने से भला नहीं हो जाती? भौजाई की सौरलिपाई से लेकर लड़कोर में की जाने वाली कुटाई-पिसाई खैरात में थोड़े की थी? दूसरा कोई करता तो बिना गहना-गुरिया नेग लिए पीछा नहीं छोड़ता।... जेठानी के पेट से होने से ब्याह के दूसरे दिन ही हाथ छुआ दिया गया पेट से थी तो किसी मर-मेहमान को रोक लिया जाता। हमारे यहाँ तो चालीस दिन के बाद ही हाथ छुआने का रस्म है।... यही दिन देखने बदे हाड़-माँस एक नहीं की थी।... ब्याहता हूँ, कोई मोल नहीं लाई गई हूँ।’

अचानक से हलीम को कमरे में किसी के झँकने की हल्की आहट मिली थी। झँकने वाले की परछाई चौखट के बगल में सिमट गई थी। फिर से झँकने के लिए दोनों हाथ दीवार से चिपकाए, अगली टाँग को समकोण बनाए गर्दन निकाली ही गई थी कि मौके की ताक में रहे हलीम की नजर से मुठभेड़ हो गयी थी। वह खालिदा थी बड़े भाई की बेटी। अभी ग्यारहवाँ साल चल रहा था। उसे स्कूल जाने के लिए बाकी लोगों की देखरेख में छोड़ दिया गया था। उसने भागने की कोशिश की मगर पूरी तरह से देख लिए जाने से भागने के बजाए चंद कदम बढ़कर सुबकने लगी थी। ‘क्या हुआ, किसी ने मारा?’ हलीम कौतूहल में था। खालिदा ने इंकार में सर हिलाया था। ‘भूख लगी है?’

‘घर मेरा है।... अब्बा-अम्मा बोल रहे थे... मेरा सामान फेंका जा रहा है, वापस आने पर सब बता दूँगी।’ लड़की जोर-जोर से रोने लगी थी।

‘केवल तुम्हारा है, हम गए भाड़ में?... बता देना जिसे बताना हो, दबैल नहीं हैं किसी की। मँगनी नहीं खाते, हाथ-जाँगर सलामत है तो कहीं रोटी के लाले नहीं पड़ेंगे।’ पत्नी आवेशित हो उठी थी।

‘चाचा कमाते नहीं।... उससे ज्यादा खर्चा है, सब अब्बा देखते हैं।...’ लड़की को अब्बा-अम्मा की इतनी ही कानाफूसी याद आई थी। अपने जाने से चाची को पराजित न कर पाने पर उसका सुबकना और तेज हो गया था।

जब भाई-भौजाई वापस आए तो हलीम का कलेजा धक्-धक् करने लगा था।

‘ये कैसा सामान है?’ त्रिपाल से ढँकना देख भौजाई को आशंका हुई थी मगर इतना धैर्य नहीं था कि जवाब की प्रतीक्षा में अपनी आशंका को और बल दे। हवा होकर खपरैल को झँक ली थी ‘पलंग-कुर्सी कुछ भी नहीं!’ दूसरे पक्के कमरे की तरफ भी लपक गई थी ‘हूँह!... भूसे की तरह ढूस-ढूसकर भर दिया गया है।... कोने-कोने पर कब्जा!... सोचे थे वापस लोटूँगी ही नहीं।... मर-खप जाने पर कैसे कोई बाल-बच्चे को पाल देगा?’

भौजाई की आवाज कानों में पड़ते भतीजी बुक्का फाड़ कर

रोने लगी थी। बंधी-बंधायी हिचकियों को स्थगित करके उसने एक में दो जोड़ दिया था ‘च-चाची... ने... म-मारा।... सामान गुस्सा-गुस्सा कर फेंकती थी।’

‘ऐं!... झूठ बोलते शर्म नहीं आती?... मैने मारा!... जब भी तबीयत खराब हुई एक ही करवट बिहान की हूँ।’ पत्नी अगले ही पल अपना पक्ष मजबूत करने लगी थी ‘देखते हैं जी सफेद झूठ।’ हलीम उसके पक्ष में बोलने के बजाए अवाक था।

‘तो क्या झूठ बोल रही है?... अकेली लड़की का भुरकस निकाल कर जी जुड़ा गया ना? इसीलिए अकेले छोड़ने पर जी रोता है। सामान भी फेंक दें, कोई चें तक न करे; इतनी ढिठाई तो आज तक नहीं देखी।’

‘हाँ, उठा दिया हाथ मैंने। पूरा बदन पिरा रहा होगा। मूसलों मार पड़ी हैं।... पूरे गाँव ने देखा, बना लीजिए गवाह सबको। पर-पंचायत जो भी बुलाना हो बुला लीजिए। पुलिस-थाना, कोट-कचहरी सब मंजूर है हमें... जो भी सजा मिले ना-नुकुर किए बिना भुगत लूँगी।... अगर खपरैल में रहने का फैसला आ जाए तो वो भी बाज जाऊँगी... किसी देस-दुनिया को निकल जाऊँगी, पलट कर फिर नहीं देखूँगी इधर।’

बड़े भाई चुप थे क्योंकि भौजाई ने ही मोर्चा संभाल रखा था। उन्हें अपने कमरे में जाते भौजाई भी पीठ पे सवार हो गई थी। कुछ देर तक कमरे में भुनभुनाहट होती रही।

‘हलीम, कमरा खाली कर दो।... हिस्से-बखरे की अभी बात नहीं, मिल बैठकर सुलह कर लिया जाएगा... बाकी तुम्हारी मर्जी।’ बड़े भाई बातों को तूल दिए बिना उल्टे पाँव कमरे में समा गए थे।

अनमने होकर पलंग-कुर्सी फिर से खपरैल में रख दिए गए और दूसरे कमरे को ताले के हवाले कर दिया गया था। गदबेर में दीया-बाती के लिए देवरानी उठी ही थी जो कि उसी के जिम्मे था, कि अपने कमरे में प्रवेश करते जेठानी ने व्यंग्य किया था रहने दो, अब अपने ही जाँगर का आसरा है। मुँह में भी कोई तभी तक खिलाता है जब तक बदला फिरने की आस बनी रहें।... बिना फायदे का कोई सेवा-टहल करे फिर देखूँ!’

देवरानी रात के लिए चौका-बर्तन करने उठी थी कि जेठानी ने हाथ झिटककर बर्तन धोना हथिया लिया था भोजन बनाना भी ऐसे ही। देवरानी खपरैल में आकर लेट गई थी। जेठानी के परिवार के खा-पीकर निश्चित होने तक वह लेटी रही। जब भूख तेज हुई तो बाकी लोगों को खाना परोसने रसोई को चली थी। कड़ाही-देगची सब साफ था जैसे जीभ से चाटा गया हो। जूठे प्लेट भी धो-माँज कर रख दिए गए थे जो कि पहले पड़े रहते थे। देवरानी चाहती तो बाकी लोगों के लिए खाना बना सकती थी मगर दो जूल्हे जलने के संकेत मिल जाने से खीझी हुई थी। कई दिनों तक ऐसे ही

चला। जब गृहस्थी अपने दो फाँक होने की जिद पर अड़ गई तो वही हुआ था जो हर संयुक्त परिवार का मुँह चिढ़ाने के लिए होता है।

अगले दिन पर-पंचायत बैठ गई थी। बड़े भाई अपनी आवाज से सबकी बोलती बंद कर देना चाहते थे ऐं!... घर खड़ा करना हँसी-ठट्टा है?... कैसे दे दूँ दूसरा कमरा। मर-मरकर मैंने बनवाया है, एड़ी का पसीना चोटी तक गया।' पंचों के प्रस्ताव को बड़े भाई ने ठुकरा दिया था।

‘साझे में ही तो बना है?’ पंचों का तर्क था।

‘साझे में तो केवल घरखर्ची चली हैं। जना-मजदूरा से लेकर ईंट-गारे तक सबका खर्चा पाई-पाई बटोरकर मैंने दिया हैं। पूछ लीजिए, गलत हो जाऊँ तो दोनों बाज जाऊँगा।’

सबकी नजर हलीम की तरफ मुड़ी थी मगर उसकी खामोशी ने बड़े भाई की बातों को सच साबित कर दिया था।

‘एक बार और गौर कर लीजिए, भाई ही है; दुश्मन थोड़े हैं।... ऐसा कि ये भी जी-खा सके।’ पंचों ने थोड़ा नरम पड़ने का आग्रह किया था।

‘घर में तो वैसे ही हिस्सा लगेगा जैसा कह चुका बाकी जगह आप लोगों की मर्जी।’

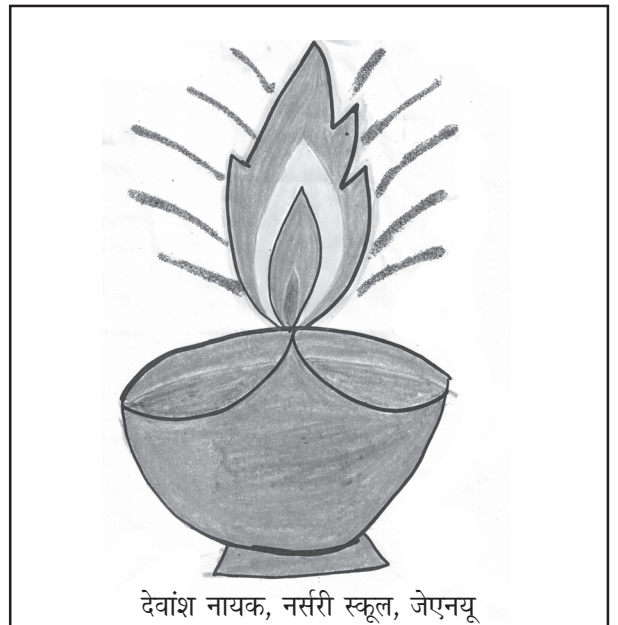
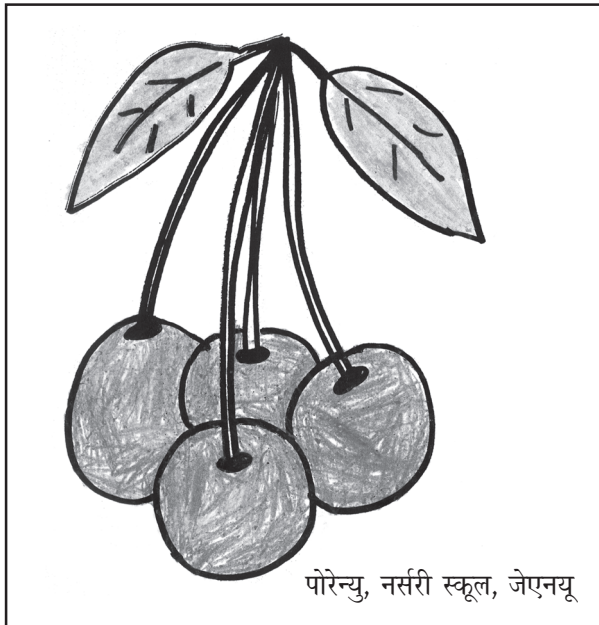
‘मतलब दोनों पक्का कमरा आपका, खपरैल छोटे भाई का?’
‘हाँ, क्योंकि हिस्सा बाप में होता है कि भाई में?... साझे में एक कमरा और खपरैल के अलावा कुछ नहीं है। कमरा मैंने बनवाया है इसलिए मेरा।’ बड़े भाई ने दोनों पक्के कमरे लेने का कारण फिर से दुहराया। घर के बँटवारे में बड़े भाई के आगे किसी की एक न चली थी। बाप इतने बुजुर्ग थे कि हाथ-पाँव काँपता रहता,

ऊपर से खैनी-बीड़ी के आदी। छोटे बेटे के साथ में रहने पर नशे के लिए हाथ मलने की लाचारी थी इसलिए न चाहते हुए भी बड़े-बेटे के साथ में रहना पड़ा था। ‘अब क्या, अब तो अब्बा मेरे में आ गए?... अब तो खपरैल भी नहीं दूँगा... सब रजिस्ट्री करा लूँगा घराड़ी-ओराड़ी सब... धुर-धुर बीता-बीता!’ बड़े भाई आते-जाते ताने लगा बैठते थे। ‘कौवाहँकनी बनाकर नहीं छोड़ी तो मैं भी पक्की जुलाहिन नहीं... देसा-देसी सोहनी-रोपनी के लिए हाथ में खुरपी दुमाना न पड़े तो मुँह में कालिख पोत देनो।’ जेठानी के ताने भी देवरानी को काफी अखरते थे। सबके ताने का वाँछित असर हलीम के परिवार पे पड़ता था। परिवार अपने दरबदर होने की आशंका में बुक्का फाड़कर रोता था।

बारिश अभी भी ज्यों-की-त्यों जारी थी। बच्चे को चुप कराने के लिए पत्नी खीझ-खीझकर स्तन उसके मुँह में दूँस रही थी। बूढ़ी औरत अल्लाह से रहम की गुहार में ज्यों-की-त्यों गला फाड़े जा रही थी। पल भर के आराम के बाद बकरी का मिमियांन फ़िर से भड़क उठता था। चारों तरफ से निराश हलीम किवाड़ को ठेलकर मौसम का मिजाज भाँपना चाहा फिर भींगते हुए आँगन में आ गया। परिवार के लोग कुछ समझ पाते उससे पहले ही उसने ‘भैया...

भैया... दरवाजा खोलिए।’ की गुहार लगा दी। पत्नी भागकर आँगन तक गई। बच्चे को बूढ़ी औरत को थमाने की जल्दबाजी में बच्चा गिरते-गिरते बचने से साँस पकड़ लिया था।

पत्नी हलीम का हाथ पकड़े कसकर खींचना चाही मगर हाथ ढीले होने से उतनी ताकत नहीं लगानी पड़ी। हलीम जैसे सचेत हो गया था। उसने कोई विरोध नहीं किया और खपरैल में आकर एक कोना पकड़े देर तक जड़ बना रहा। लज्जावश सारे लोग आँखें मिलाने से बचते रहे।



कथा :

झेल्म हॉस्टल रूम नं. 32

जैनेन्द्र कुमार



आज भी मैं हड़बड़ी में था जो आमतौर पर मेरी आदत भी बन चुकी है। स्टेडियम में रनिंग करने और उसके बाद हॉस्टल आकर नहाने में इतना समय लग गया कि मेस का समय लगभग खत्म हो गया। रात के 9 बजकर 2 मिनट हो गए थे। मेस साढ़े सात से रात नौ बजे तक ही चलता है। आपको सच्चाई बताऊँ तो बीच में पाँच मिनट व्हाट्सअप में भी लग गए। वोल्गा का मैसेज आया था और उसका लड़ने का मूड था। आज इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर में एक कवि से उसकी बहस हो गयी थी। गुस्सा कहीं का था लेकिन निकला मेरे ऊपर। मैंने भी गुस्सा उतारने में उसकी मदद की और व्हाट्सअप पर सबसे ज्यादा टाइप किए जाने वाले हम्म का लगातार प्रयोग किया।

उसको सुनने और गुस्सा उतारने तक मेस का टाइम लगभग खत्म हो गया। मैंने खाना खत्म हो जाने की दुहाई दी और खाना के बाद फोन करने का वादा किया। उसने बद्दुआ दी कि जाओ तुमको खाना नहीं मिलेगा। जेएनयू वाले खाने के पीछे इतना पागल क्यों होते हैं? भले कोई काम छूट जाए लेकिन खाना छूटना नहीं चाहिए। मैंने भूख के आगे उसकी बातों को इग्नोर किया और भाग कर मेस पहुँचा। वोल्गा की बद्दुआ के बावजूद खाना मिल गया। बुधवार का दिन था इसलिए खाने में मछली थी। अफसोस हुआ कि पहले आ जाता तो मछली की मुंडी मिल जाती। पहले के कुछ सौभाग्यशाली मछली प्रेमियों को ही यह सुविधा मिल पाती है। उनको मुंडी के अलावा एक अतिरिक्त पीस दिया जाता है। बाकी के लोगों को सिर्फ एक पीस से काम चलाना पड़ता है। इसलिए बुधवार के दिन सात बजे से ही लाइन लगनी शुरू हो जाती है। कई बार तो स्पेशन डिनर होने का भी भ्रम हो जाता है।

मुंडी न मिल पाने का गम था। खाने के तुरंत बाद लायब्रेरी जाना था इसलिए सब कुछ तेजी से निपटा रहा था। लेकिन मछली का काँटा स्पीड कम कर दे रहा था। लेट पहुँचने पर लायब्रेरी में सीट नहीं मिलती। हमलोग मेस में बात करते हुए ही खाते हैं। जैसे भी झेलम मेस बहस के ही लिए जाना जाता है। मेस टेबल पर बहस में नियमित भाग लेने वाले अधिकतर लोग अब तक खा चुके थे इसलिए मेस का माहौल शांत था। मैं चुपचाप सर नीचे किए जल्दी-जल्दी खा रहा था। अचानक मेरा ध्यान टूटा जब मेरे मेज के ठीक उस पार बैठे एक लड़के ने बहुत प्यार से कहा - भैया हमसे बात नहीं करेंगे? मैंने कहा... अरे क्यों नहीं करेंगे...।

बोलो...। फिर थोड़ी बहुत वही हॉस्टल लाइफ की घिसी-पिटी बातें हुईं। मसलन सिनोप्सिस दे दिया? कितना चैप्टर लिखा? गाइड परेशान तो नहीं करते? रूममेट का व्यवहार कैसा है?

स्कॉलरशिप टाइम पर आ रही है कि नहीं? आदि इत्यादि। उसने इन बातों का उतना ही जवाब दिया जितने में काम चल जाता है।

हॉस्टल लाइफ या कॉलेज लाइफ में इन प्रश्नों से हर दिन भिड़ना होता है इसलिए कुछ दिनों बाद सब लोग इसके आदी हो जाते हैं और इन प्रश्नों का कोड वर्ड में जवाब भी देना सीख जाते हैं। कुछ देर तक हम खामोश रहे। मेरी खामोशी में भी जल्दबाजी थी लेकिन उसने बहुत सुकून से कहा भैया एक बात कहूँ...।

कहो-कहो...आर्डर की क्या जरूरत...

मैंने दांतों में फंसे मछली के कांटे को निकालते हुए अस्पष्ट आवाज में कहा। उसके चेहरे पर संतुष्टि का भाव आया और उसने लगभग हँसते हुए कहा आपको पता हैं।... मैं दो साल पहले आपके ऊपर रैगिंग का केस करना चाहता था। हेंय... मैं अवाकू रह गया। चारों दिशाएं डोल उठी। जोर से दिमाग की बिजली चमकी। फिर मैंने आधी हंसी और आधे आश्चर्य भाव से पूछा... क्यों?

मेरे क्यों कहने में घबराहट थी।... क्योंकि मैं जब भी आपको देखता था तो परेशान हो जाता था।

मुझे देखकर?

हाँ... आपको देखकर।

उसने बताना शुरू किया। जब आप पहली बार मेरे रूम में आए थे तब मेरे रूम पार्टनर ने आपका और हमारा परिचय करवाया था। परिचय करवाने के तुरंत बाद आपने मेरे टेबुल पर से मिठाई का डब्बा उठा लिया और कहा कि भूख लगी है जरा एक मिठाई ले लूँ। मैं पूरी तरह से ना कहना चाहता था क्योंकि वो डब्बा मेरी गर्लफ्रेंड ने दिया था। उस दिन उसका जन्मदिन था। इससे पहले की मैं कुछ कह पाता आपने मिठाई मुँह में डाल ली थी। आप मुझसे सीनियर थे इसलिए मैंने कुछ नहीं कहा लेकिन मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने अपने रूम पार्टनर से भी कुछ नहीं कहा क्योंकि मुझे लगा आप उनके दोस्त हैं उनको बुरा लगेगा।

मैंने याद करने की कोशिश की। थोड़ा बहुत याद आया। मैंने सहमति में हूँ कहने की कोशिश की लेकिन उसकी आवाज इतनी कम थी कि ठीक से मैं भी नहीं सुन पाया। वह अपनी रौ में बोलता ही जा रहा था। लेकिन मैं सकते में था। मुझे उम्मीद नहीं थी कि कोई मेरे बारे में भी ऐसा सोच सकता है। मेरे खाने की स्पीड कम हो गयी। लायब्रेरी जाने का उत्साह धूमिल पड़ गया। मैं करंट लगे अधमरे आदमी की तरह महसूस कर रहा था। (मुझे एक बार करंट लगा है इसलिए मुझे उस स्थिति का ठीक-ठाक पता है) मेस टेबुल पर बहुत सारे छात्र अब भी बैठे थे। कुछ के साथ उनकी 'गर्लफ्रेंड'

भी थी इसलिए मुझे थोड़ी असहजता महसूस हो रही थी कि कोई सुन ना ले। लेकिन उसे आसपास बैठे किसी की भी परवाह नहीं थी उसका बोलना अब भी जारी था।

मैंने सोच लिया था आपसे कम बात करूँगा। फिर एक दिन खाने के बाद आप अचानक रूम में आए। आप हांफ रहे थे। ठंड का दिन था। आप मेरे रूम पार्टनर को क्रिकेट खेलने के लिए बुलाने आए थे। शायद आप सीढ़ियों पर भाग-भाग कर सब को इकट्ठा कर रहे थे इसलिए बहुत तेजी में लग रहे थे। हम दोनों आराम कर रहे थे। (मुझे भी वो क्षण याद आ गया। दरअसल वो दोनों सो रहे थे। आपने गेट पर जोर का धक्का दिया। हम दोनों चौंक उठे। मैंने कुछ कहना चाहा लेकिन तब तक मेरे रूम पार्टनर ने कहा कि मुझे पाँच मिनट दो मैं सीधे झेलम लॉन आता हूँ। उनको आपके बारे में सब कुछ पता था लेकिन आप मेरे लिए बिलकुल नए थे। आप वहीं तक नहीं रुके आपने अब मेरी तरफ इशारा किया। तुम क्रिकेट नहीं खेलते? मैंने कहा... नहीं। क्यों? खेलना चाहिए। खेलने से बहुत फायदे हैं। सब लोगों से मिलना-जुलना होगा। हेल्थ भी ठीक रहेगा। मैंने मन ही मन कहा... बकवास। लेकिन जब तक मैं आपसे पूरी तरह डरने लगा था इसलिए मैंने कहा कि कल मेरा प्रजेंटेशन है। आप जल्दी में थे इसलिए तुरंत चले गए। शायद आपको मेरी बात पर विश्वास हो गया था। उसके बाद आपने मेरे सामने वाले रूम के ठीक बाएं वाले रूम का दरवाजा जोर से पीटा। आप किसी गुंडे मवाली की तरह से रौब दिखा रहे थे। आपको इस बात कि कोई परवाह नहीं थी कि कौन किस अवस्था में होगा। किसको खेलना है किसको नहीं। आप सबको मैदान में घसीट के ले जाने की कोशिश कर रहे थे।

मेरे अन्तर डर समा गया। सच में मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरा कल प्रजेंटेशन है। मैंने तुरंत मम्मी को फोन लगाया। इतनी सी बात पर मम्मी को फोन कर दिया....? मैंने शांत पड़ चुके अपने गले को जगाने की कोशिश की। वह रफ्तार में बोले जा रहा था लेकिन मैंने उसे टोक दिया। वह इसके लिए तैयार नहीं था।

...अरे भैया मैं बच्चा हूँ ना। मैं बहुत इमोशनल हूँ। मैं जल्दी डर जाता हूँ।

उसके कहने के अंदाज़ से मुझे हल्की हंसी तो आई लेकिन तब तक मैं पर्याप्त टेंशन में आ चुका था। इसलिए इस हंसी से भी मेरे चेहरे के भाव में कोई हसीन बदलाव नहीं हुआ। वह जिस आत्मीयता से बात कर रहा उससे साफ लग रहा था कि उसे अब मुझसे कोई दिक्कत नहीं है। अब वह मुझसे बात करने में सहज है।

लेकिन मेरी उत्सुकता इस बात को जानने में बढ़ रही थी कि मैं आज भी तो पहले जैसा ही हूँ फिर इसको मेरी बात अचानक बुरी लगनी क्यों बंद हो गयी? अचानक इसका इंटरैस्ट मेरे में क्यों हो गया है?

वह एक दम में बोले जा रहा था। वह बहुत अंतर्मुखी स्वभाव का लड़का था लेकिन आज वह सब कुछ कह देना चाहता था। मैंने मम्मी को बताया कि हॉस्टल में एक भैया मेरा रैगिंग ले रहे हैं। मम्मी डर गयी। उनके डर ने पापा को भी डरा दिया। मैंने दोनों को पूरी बात बताई। उन्होंने कहा कि उससे बच कर रहो।

शाम में मेरा एकमात्र लड़का दोस्त मयंक आया। मैंने उसे भी पूरी बात बताई। उसने कहा कि चलो एंटी रैगिंग का केस फाइल कर देते हैं। लेकिन हमने ऐसा कुछ नहीं किया। हम आपको एक और मौका देना चाहते थे। उसके बाद आप बहुत दिनों तक हमें दिखे ही नहीं। शायद आप घर चले गए होंगे या फील्डवर्क पर। अगर आप हॉस्टल में होते तो मेस में आपकी आवाज जोर-जोर से सुनाई देती। सन्डे को आप फिर से लोगों का दरवाजा पीट रहे होते। हॉस्टल के गेट पर धूप में खड़े होकर किसी न किसी को चाट रहे होते। लेकिन ऐसा कुछ दिनों से दिख नहीं रहा था।

आप बहुत दिनों के बाद अचानक दिखे। हॉस्टल नाईट की तैयारी चल रही थी। मैंने आपको भाग-भाग के काम करते देखा। कभी कारिडोर में तो कभी गेट पर। मैं खाने के लिए मेस में जा रहा था अचानक आप सामने से आ गए। आपने पहली बार मुझसे बहुत प्यार से पूछा... कैसा सजा है हॉस्टल अपने दोस्तों को बुलाओ। कूपन लो। एन्जॉय करो। कोई दिक्कत हो तो बताओ। आप हमारे साथ मेस तक आए साथ में खाने की थाली ली। रोटी की लाइन में मुझे पहले रोटी लेने दी। मेरी थाली में अपने से पहले सलाद डाला। मैं और डर गया। मुझे लगा अब आप मेरे साथ बड़ा वाला कुछ करेंगे। मैं। आपके साथ बैठने के बजाय कहीं और बैठना चाहता था लेकिन आपने मुझे अपने साथ बैठा लिया। आपका इतना रियल और डोमिनेंटिंग नेचर है कि तुरंत से आपको मना करना बहुत हिम्मत का काम है। मैं। आपसे कोई बात नहीं करना चाहता था। सामने बैठे लोगों ने मेरा काम आसान कर दिया। वे लोग आपसे बात करते रहे और आपको बेहतर हॉस्टल नाईट और स्पोर्ट्स इवेंट के आयोजन के लिए बधाई देने लगे। मैंने जल्दी-जल्दी खाना खत्म किया और वहां से दूर चला गया। मुझे क्रेडिट पर कूपन लेने में कुछ दिक्कत आई लेकिन मैंने आपको नहीं बताया। आप हॉस्टल नाईट की रात डीजे के टाइम में मेरे पास आए और मेरे साथ एक दो स्टेप डांस किया और फिर अपने ग्रुप में चले गए। मैं। आपके साथ सामान्य तो नहीं था लेकिन डर थोड़ा कम होने लगा।

मैंने अब लाइब्रेरी जाने की उम्मीद छोड़ दी। जूठा हाथ सूख चुका था। धोने का समय कहाँ था मैं चुपचाप उसकी बात सुनता रहा।

कुछ दिनों बाद मेरे रूम पार्टनर यानी आपके दोस्त की नौकरी लग गयी और वो हॉस्टल छोड़कर चले गए। मेरा रूम खाली हो गया था। अब मैं अकेला था। मुझे अकेला रहना अच्छा लगता था। अब मैं खुश था। सिर्फ दो लोग मेरे पास आते थे मयंक और

मेरी गर्लफ्रेंड कोयना। एक दिन मयंक सुबह-सुबह मेरे पास आया। उसका फोन टेबल पर पड़ा था और वह वॉशरूम गया हुआ था। उसका फोन आया। मैंने देखा लेकिन मैं अपने लैपटॉप पर काम करता रहा। फोन बार-बार आ रहा था। मैंने ये सोच के फोन को हाथ में लिया कि सामने वाले को बता दूँ कि मयंक बाथरूम में है।

मुझे नंबर जाना पहचाना लगा। अरे ये तो कोयना का नंबर है। नंबर पीकॉक नाम से सेव था। मुझे दो लोगों के नंबर पूरी तरह याद हैं। पापा और कोयना का। इतने में फोन पूरा बज कर कट गया। मैंने सोचा अबकी बार आएगा तो बता दूँगा कोयना और मयंक भी आपस में परिचित हैं इसलिए मुझे वह कॉल सामान्य लगी। विंडोज का फोन था। अबकी बार फोन आने के बजाय मैसेज आया। लव यू... गुड मॉर्निंग... फोन पिक करो... मैं तुम्हारे रूम पर आ रही हूँ... तुम कहाँ हो?

खाने का समय खत्म हो गया था। सारे लोग खा चुके थे। बस कुछ मेस वर्कर बच गए थे जो हमारे साथ ही खा रहे थे। सफाई वाला हमें एक ही बेंच पर बैठकर खाने का अनुरोध कर रहा था ताकि वो बाकी जगह साफ कर सके। हम दोनों ने अपना प्लेट उठाया और एक कोने में बैठ गए। उसने फिर से बोलना शुरू किया। इस छोटे से व्यवधान से भी उसके बोलने के लय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

भैया मैं रोने लगा...। (उसका चेहरा अब भी भावुक हो उठा) फोन जहाँ से उठाया वहीं रख दिया। तब तक मयंक भी आ गया था। मैंने बाहर का रोना बंद कर दिया और अन्दर ही अन्दर रोने लगा। मयंक ने पूछा तो मैंने मम्मी की याद का बहाना बना कर टाल दिया।

उसे भी लैपटॉप पर काम करते-करते अचानक मेरा रोना अजीब लगा। लेकिन उसे पता था कि मैं भावुक हूँ और कभी भी रो सकता हूँ इसलिए उसने टाल दिया। उसने फोन चैक किया। जाहिर है वो रुक नहीं सकता था।

उसने बहाना बनाया और शाम में मिलने का वादा करके निकल गया। कोयना ने आज मुझे सुबह गुड मॉर्निंग मैसेज में बताया था कि उसकी कजिन आई हुई है इसलिए आज वो घर पर ही रहेगी। मयंक पेरियार हॉस्टल में रहता था। कोयना डे स्कॉलर थी और वसंत कुंज में अपने परिवार के साथ रहती थी। मैं भी मयंक के पीछे हो लिया। मैं गोदावरी बस स्टॉप के उस पार जूस की दुकान के पीछे छिप कर बैठ गया। वो आई और पेरियार चली गयी। मैं बाहर ही इंतज़ार करता रहा। वो दोनों शाम में निकले। वो ऑटो से निकल गयी। कुछ देर बार मयंक ने मुझे फोन किया। मैं पागल हो चुका था लेकिन रोड पर कोई बहस नहीं करना चाहता था। इसलिए उसे रूम पर ही बुलाया और भाग कर रूम पर पहुंचा। उसके आते ही मैं लड़ पड़ा।

आप मुझे देख रहे हैं ना भैया... मैं शरीर से कितना कमजोर आदमी हूँ।

मेरा ध्यान अचानक टूटा। उसने कहानी से बाहर आके मुझसे सवाल किया था।... मैंने धीरे से कहा... हाँ।

उसने अपने हाथों को हवा में अपने सर से पेट तक लहराया। ऐसा करके वह अपना कमजोर शरीर मुझे दिखाना चाह रहा था। मैंने कहा... मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ...। आगे बोलो क्या हुआ?

...फिर उसने मुझे मेरे ही बेड पर पटक दिया। और अपना मोबाइल निकाल कर कोयना के मैसेज और उसके साथ अपने कोजी फोटो दिखाए। अब मैं किसको क्या कहता। मैं बेड पर से उठ नहीं पाया। वो चला गया। मैं बीमार हो गया। पापा-मम्मी फोन पर फोन करते रहते। हेल्थ सेंटर हर वक्त मेरे साथ था लेकिन मैं बीमार बना रहा। उस वक्त मैंने आपको बहुत याद किया। मुझे लगा काश आप मेरे रूम में आते और मेरा हाल चाल पूछते... मेरे पास बैठते। आपने मुझे निराश नहीं किया। आप अगले दिन आए। जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी। आप अपने दोस्त का कोई लेटर खोजते हुए आए थे क्योंकि इसी पते पर पुरानी चिट्ठियाँ आ रही थी। आपने मुझसे पूछा तो मैंने कहा कि कोई चिट्ठी नहीं आई है।

मेस पूरा खाली हो गया था इसलिए हमने अपनी थाली धोने वाली टेबल पर रख दी। हमने अपने कठोर हो चुके हाथ धोए। अब हम पेपर स्टैंड के पास खड़े होकर बात करने लगे थे। संयोग से इस वक्त वहाँ कोई नहीं था इसलिए बात करने में कोई दिक्कत नहीं हुई।

आपने फिर मुझसे पूछा कि अबे... तुम तो दुबले हो गए हो... कुछ लेते क्यों नहीं?

अगर यही बात आपने पहले पूछी होती तो मैं आपके ऊपर रैगिंग का केस लगा चुका होता लेकिन आज आपकी ये बात मुझे अच्छी लगी। मैं जैसा चाह रहा था आप ठीक वैसा ही कर रहे थे। मैंने कहा... भैया बीमार हूँ। मुझे उस दिन ज़रा सा भी डर नहीं लगा आपसे। आपने मेरा हाथ पकड़ा। मेरे शरीर पर हाथ फेरा। अरे तुम्हें तो बहुत बुखार है। मैंने हल्के से हाँ... कहा। तुम्हारे पास थर्मामीटर है? नहीं...। रुको मैं लेकर आता हूँ। आप वहीं से आवाज लगाते हुए निकले... अरे आजममम... तुम्हारे पास थर्मामीटर... और फिर आवाज धीमी होती चली गयी। एक बात है भैया... आपके अन्दर फुर्ती बहुत है।

आप तुरंत थर्मामीटर लेकर आए। आपने बुखार चैक किया। 103 डिग्री। आपने तुरंत एम्बुलेंस कॉल किया। आप मुझे लेकर सफदरजंग गए। फिर बुखार उतरने के बाद हॉस्टल लेके आए। मेरे खाने-पीने का ख्याल रखा। अगले दिन मम्मी-पापा आए और मुझे कोलकाता ले गए। मैं बहुत दिन तक बीमार रहा।

ठीक होने के बाद आया तो बहुत सारी क्लासेज छूट गयी थी। उसको कवर करने में कुछ पता नहीं चला। मैं बचपन से पढ़ाकू रहा हूँ इसलिए पढ़ने में मेरा मन सबसे ज्यादा लगता है। लेकिन धीरे-धीरे उदासी ने फिर घेर लिया।

मयंक और कोयना बुरी तरह याद आते। दोनों को साथ-साथ कैम्पस में देखता तो रात के अकेले में खूब रोता। कभी-कभी तो दिन में भी रूम बंद करके रोता। आपसे बात करने की कोशिश की लेकिन आप बहुत बिजी लगते थे। आप मेस में भी नहीं दीखते थे। एक दिन मैंने आपको खाना मेस में ना खाकर अपने रूम ले जाते देखा।

एक दिन आप बाइक पर किसी लड़की के साथ दिखे। ऐसा कई बार हुआ। मैं समझ गया आप अपने गर्लफ्रेंड के साथ बिजी हैं। आज बहुत दिन बाद आप मेस में दिखे। मैं बहुत दिन से आपने बात करना चाहता था। आपसे बात करके अच्छा लगता है।

मुझसे बात किया कीजिए। मैं चुपचाप था। अब वो जल्दी-जल्दी बात खतम करने लगा था। वह मेरे रेस्पांस के लिए अधीर हो उठा। लाइब्रेरी की मेरी संभावित सीट कब की लुट चुकी थी।

ऊपर टीवी रूम से क्रिकेट मैच देखने वालों की आह-वाह हर चौके-छक्के पर बारम्बार उठ रही थी। इंग्लैंड धोनी के हाथों पिट रहा था। मेरा फ़ोन बार-बार बज रहा था। वोल्गा फ़ोन कर रही थी। वो अब मेरे बोलने की प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे कुछ नहीं सूझा। मैंने उसे ज़ोर से गले से लगा लिया। वोल्गा अब भी फ़ोन किए जा रही थी। जीन्स की पॉकेट में फोन का वाईब्रेशन गुदगुदी पैदा कर रहा था।

कविता

उज्ज्वल आलोक, जेएनयू के भारतीय भाषा केन्द्र में शोध छात्र है। प्रस्तुत कविता जेएनयू में विश्व हिंदी दिवस 2017 के अवसर पर आयोजित प्रतियोगिता में पुरस्कृत की गई।



जेएनयू की दीवारें

बचपन से सुनते आया था
दीवारों के कान होते हैं
यहाँ आया तो जाना
दीवारों के जुबान होती हैं
हालाँकि बोलते देखा था गाँव के दीवारों को
रेल के किनारे ईट की लम्बी-लम्बी कतारों को
कि गदहे के पूत यहाँ मत मूत
दाम्पत्य जीवन से निराश, संतान की नहीं कोई आश
तो मिलें
शनिवार को मर्जदवा के हाकिम से
रविवार को पुरानी बाजार की पतली गली में
जहाँ भगा दे मर्ज सारा चुटकी भर अफीम से
पर यहाँ की दीवारें इनसे अलग बातें करती हैं
विज्ञापन नहीं विचार रखती हैं
खड़ी रहती हैं आमने-सामने
अगल-बगल में
अपनी-अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ
प्रतिकूल, प्रतिद्वन्दी विचारधारा वाली दीवारों पर
न गिरती-गिराती हैं, न ढहती-ढाहती हैं
बस खड़ी रहती हैं
अपनी-अपनी विचारधारा के साथ

एक-दूसरे के सामने और एक-दूसरे के बगल में
मिलकर थामे हुए हैं कंधे पर उस छत का भार
जिसके नीचे निर्माण हो रहा
देश के भविष्य का
पढ़ती हैं, पढ़ाती हैं कि
“लड़ो पढ़ाई करने को
पढ़ो समाज बदलने को”
खुद दीवार हैं पर तोड़ने को कहती हैं
उन दीवारों को जो तुम्हें कारा में जकड़ दें
“तोड़ो तोड़ो कारा तोड़ो”
बेखौफ बोलती हैं
क्योंकि याद है फ़ैज की वो बात कि
“बोल की लब आजाद हैं तेरे”
और बोलना बंद नहीं करती
क्योंकि
“आदमी
मरने के बाद
कुछ नहीं सोचता
आदमी मरने के बाद
कुछ नहीं बोलता
कुछ नहीं सोचने और कुछ नहीं
बोलने पर
आदमी मर जाता है”

कथा :

वसूली देवी

सुगंधा अग्निहोत्री



अवध की शामों के बारे में तो सुना ही होगा आपने, किन्तु नवाबों के वक्त की उन शामों और आज के लखनऊ की शामों में जहाँ अभी भी कुछ समानताएँ हैं तो बहुत कुछ बदला भी है। पर आज भी आपको वही कबूतरबाजों की सीटियों से गूँजता समां, कबूतरों-पतंगों संग फड़फड़ाता आसमान, घरों के सामने से निकलते सब्जी, चाट-बताशों, कुल्फी के ठेले, बरामदों में बैठे लोगों की गपशप और पार्कों-सड़कों पर खेलते बच्चों की हंसी-ठिठोली सुनने को मिल जाएगा। इस चहल-पहल के बीच में दूर किसी मंदिर में होती आरती और मस्जिद की अज़ानें इन शामों को और रुहानी बना देती है।

हमारा घर पुराने लखनऊ के ऐशबाग इलाके में है। यहाँ एक सरकारी कॉलोनी है 'पीली कॉलोनी', पीली क्योंकि सारे दोमंजिला मकान एक ही हल्के पीले रंग से रंगे हैं और सबके घरों के सामने एक छोटी-सी कच्ची ज़मीन है जिसके बाहर काले रंग के लोहे के गेट हैं। बस कुछ ही दिन हुए हैं हमें इस घर में आए हुए जो कॉलोनी के एक छोर पर है और इससे सड़क पार करके एक छोटा-सा पार्क है जहाँ बच्चे क्रिकेट खेलते रहते हैं। अक्सर उनकी गेंद हमारे घर के प्रांगण में आ गिरती है और फिर हमारे उस छोटे से लोहे के काले गेट के खटकने की आवाज़ों का दौर शुरू हो जाता है।

अधिकतर शामें यँ ही निकलती थीं और हमने गेट के खटकने की आवाज़ों को अब नज़रअंदाज़ करने की कला सीख ली थी। पर एक शाम हमारा गेट कुछ अलग ही तरह से खटका। एक आवाज़ होती जो कुछ पल के लिए थम जाती और फिर पूरा गेट ही मानो कोई झकझोर देता। लगभग पांच-साथ मिनट ये सिलसिला चला फिर हमें लगा अब देख ही लेना चाहिए आखिर ये बला है क्या। बाहर जाके देखा तो एक भूरे रंग की गाय खड़ी थी जो कभी अपनी सींगों से कभी सर से गेट को धक्का मार रही थी और बीच-बीच में गेट के ऊपरी सिरे से अपनी गर्दन भी खुजला ले रही थी।

तभी ऊपर वाली आंटी जो अपनी बालकनी से झाँक रही थी, उन्होंने बताया की पास की कॉलोनी के घर में पली थी वो गाय और कुछ वक्त पहले ही उन्होंने उसे सड़क पे छोड़ दिया। इसलिए अब वो इधर-उधर भटकती है और यँ ही गेट पे जाकर खाना मांगती है। हमें और हमारे घरवालों को उस भूरी गाय पे दया आई तो उसे सुबह की बासी रोटी लाकर दे दी। कुछ दिन यँ ही चलता रहा, शाम को वो भूरी गाय गेट खटकाती और घर में जो भी खाना बचा हुआ होता हम दे देते। और कुछ दिन बाद हमारी माँ ने सुबह और शाम की पहली रोटी गाय के नाम पे बनाना शुरू कर दी।

वो गाय सिर्फ हमारे घर नहीं बल्कि कॉलोनी के उन सब घरों का गेट खटकाती जहाँ उसे रोटी मिलती थी या रोटी मिलने की आस होती थी। धीरे-धीरे उन घरों से रोटी लेना वो अपना हक समझने लगी और फिर वो तब तक गेट न छोड़ती जब तक उसको रोटी या कुछ भी खाने को दे न दिया जाता। इसीलिए हम सबने उसका नाम रख दिया 'वसूली देवी'।

वसूली देवी को धर्म-मज़हब का ज्ञान नहीं था इसलिए वो हिन्दू-मुसलमान के घरों में फर्क नहीं करती थी और न ही लोग ऐसे थे जो एक बेजुबान पशु को धर्म के रंगों में रंगें। जिस घर से उसे रोटी मिलती वो हर उस घर में जाती और लोग पुण्य कमाने से ज़्यादा उस भूखे पशु को रोटी देने में विश्वास रखते थे। ऐसे ही कॉलोनी के कुत्तों को भी रोटी मिलती थी पर वो गेट-गेट जाकर वसूली देवी जैसे वसूलते नहीं थे बस।

अब वसूली देवी की आदत सी हो गयी थी और अगर कुछ दिन वो न आती तो उसके लिए बनी रोटियों का ढेर लग जाता था रसोई में। एक बार वसूली देवी लगातार दो सप्ताह नहीं आई और हमलोगों को थोड़ी फिक्र होने लगी कि आखिर हुआ क्या है।

उसका कोई एक ठिकाना भी नहीं था जहाँ जाके देख आते की ठीक है वसूली देवी की नहीं। फिर कुछ दिन बाद गेट खटका हम रोटियों का ढेर लेके पहुंचे बाहर तो देख के अचंभित रह गए; वसूली देवी इस बार अकेली नहीं थी, वो अपनी एक छोटी-सी बछिया भी साथ लाई थी। छोटी-सी उसी के रंग की छोटी वसूली देवी।

बड़े प्यार से हमने उस बछिया को सहलाया और दोनों को रोटी खिला दी। हमें वसूली देवी की बुद्धिमता को देख के बड़ा आनंद आया, क्योंकि वो अपनी बछिया को हर वो घर ले जाके दिखा रही थी जहाँ उसको खाना और प्रेम मिलता था।

वर्ष बीते और वसूली देवी की नस्लें हमारी कॉलोनी में आके गेट खटका के रोटी मांगती रहीं। अब तो हमें याद भी नहीं की कौन से नंबर की वसूली देवी को हम रोटी खिलाते हैं। और जाने कैसे जो भी बछड़े होते वो छोटे पे तो अपनी माँ के साथ रोटी खाने आते थे पर बड़े होने पे कभी नहीं आए।

ऐसे ही एक बार वसूली देवी अपनी बछिया को घर दिखा के जाने कहाँ नदारद हो गयी और वो बछिया बस हफ्ते में दो-चार बार रोटी खाने आती फिर उस बछिया ने भी आना बंद कर दिया। कुछ दिनों बाद पता चला की सड़क किनारे वो बछिया मरी मिली थी शायद पॉलिथीन खाने से उसकी मृत्यु हो गयी थी। शायद

उसकी माँ का भी यही हुआ होगा। हम सब एक पशु को लेकर राजनीति करते हैं, रंगों को लेकर राजनीति करते हैं, खान-पान, पहनावे को लेकर राजनीति करते हैं और इन सबको धर्म-मज़हब में बाँट देते हैं। पर कभी सड़कों को गन्दा न करना, किसी जीव पर क्रूरता न करना, भूखे को भोजन देने, प्यासे को पानी देना इसे क्यों नहीं धर्म समझते। हमारे यहाँ लोगों के दिलों में अभी भी ममता-करुणा है।

वो अभी भी दरवाज़े पे आए जीव को भूखा नहीं जाने देते, बस एक अनभिज्ञता है अपने आस-पास के पर्यावरण को लेकर जो

कभी-कभी अनजाने ही वसूली देवी जैसे जीवों की जान ले लेती है। शायद हर किसी को ज़रूरत है ऐसे ही एक वसूली देवी से लगाव करने की और उसको खोने की ताकि उन्हें भी हम और हमारी कॉलोनी के लोगों सी चेतना आए कि एक छोटी-सी पॉलिथिन जैसी चीज़ भी जान ले सकती है। अब हमारी कॉलोनी के लोग बाहर सड़क पर कूड़ा नहीं फेंकते बल्कि कूड़े की गाड़ी में ही डालते हैं। आज वसूली देवी नहीं है पर एक सबक ज़रूर है हम सबके ज़ेहन में; जो शायद आपके ज़ेहन में भी कभी न कभी जग जाएगा।

कविता

अंकित तोमर, जेएनयू के अंतरराष्ट्रीय राजनीति, संगठन एवं निशस्त्रीकरण अध्ययन केन्द्र (अं.अ.सं.) में शोधार्थी हैं। प्रस्तुत कविता जेएनयू के विश्व हिंदी दिवस की प्रतियोगिता में पुरस्कृत की गई।



कश्मीर

तारों की टिमटिमाहट से,
पानी की झिलमिलाहट से,
पलकों की हल्की सी आहट से,
जो मन से उभरे, जो तन में पनपे,
उस स्वर्ग की तस्वीर है,
यह कश्मीर है, कश्मीर है।

बहती हवा की सरसराहट से,
फूलों पर भंवरे की गुनगुनाहट से,
एक मासूम-सी कली की शरमाहट से,
जो मन को मंत्रमुग्ध करके,
करती अपने अधीन है,
यह कश्मीर है, कश्मीर है।

जहाँ भूमि और अंबर का होता मिलन,
जहाँ चैनो-अमन का था कभी वातावरण,
वो घटा पूछती है इंसान से जरा बता,
किसने तुझे यह हक दिया,

कि तूने खुदा की इस धरती को
टुकड़ों में बांटने का साहस किया?
इंसान इस प्रश्न पर खामोश है,
उस जश्न में मदहोश है,
जब वह बरपा रहा है कहर,
बह रही है लहू की नहर
में कैसे इस कहर को टोकूँ,
कैसे इस नहर को रोकूँ,
जब हाथों में बंधी जंजीर है,
यह कश्मीर है, कश्मीर है।

कुछ लकीरों से बंटा हुआ
और तलवारों से कटा हुआ
जुल्म से अधमरा हुआ,
जख्मी उसका शरीर है,
जो खुद अपने अस्तित्व की भीख मांगें,
ये वो फकीर है,
यह कश्मीर है, कश्मीर है।

मैंने पूरी दुनिया को पहली बार जेएनयू की आँखों से देखा

प्रो. अजय पटनायक



प्रो. अजय पटनायक, जेएनयू के सामाजिक विज्ञान संस्थान में प्रोफेसर हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में उनकी छात्र जीवन से ही दिलचस्पी रही है। प्रस्तुत है जेएनयू को लेकर उनके अनुभव।

मैं जेएनयू में 1979 ई. में एम फिल करने आया था। उस जमाने में जेएनयू बहुत छोटा कैम्पस हुआ करता था। तकरीबन दो हजार छात्र होंगे और दो-तीन सौ से अधिक शिक्षक नहीं होंगे। कक्षाएं पुराने जेएनयू परिसर में हुआ करती थीं, परंतु इस नए परिसर में कुछ छात्रावास बन गए थे। दक्षिणापुरम में तीन छात्रावास लगभग तैयार हो गए थे। एक ब्रह्ममुत्र हॉस्टल, दूसरा विवाहित लोगों के लिए महानदी छात्रावास आदि बन गए थे। हॉस्टल में ही भोजन की व्यवस्था थी, इसलिए हम लोग पुराने परिसर से कक्षाओं के बीच में लंच के लिए हॉस्टल आते थे। परंतु जिन्हें नहीं आना होता था वह अपने साथ सुबह में ही लंच पैक करवा कर ले जा सकते थे।

उस समय कैम्पस थोड़ा एलिटिस्ट (कुलीन वर्गीय) था। ज्यादातर छात्र अच्छे स्कूलों से पढ़कर आते थे, धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलते थे। आरंभिक दिनों में इसलिए हम जैसे गावों और दूर छोटे शहरों से आए छात्रों में हीनताबोध की भावना घर कर जाती थी। मेस में जाते थे तो हमें पूछना पड़ता था कि यह क्या है? तो फिर बताया जाता था कि यह फ्रेंच टोस्ट है। फिर पूछते थे कि यह फ्रेंच टोस्ट क्या होता है? तो फिर बताया जाता था कि ब्रेड को दूध और अंडा में फेंटकर फिर उसको पेन में फ्राई करके इसे बनाया जाता है। कांटे और छूरी से इसे खाना होता था। खाना खत्म करने के बाद बगल में बैठने वाले को 'एक्सक्यूजमी' कहकर उठना पड़ता था। कुल मिलाकर उस समय जेएनयू का चरित्र अलग था। परंतु धीरे-धीरे इसका चरित्र बदलने लगा।

विश्वविद्यालय की प्रवेश नीति और प्रक्रिया में बदलाव के कारण देश के तमाम इलाकों से लोग यहां पढ़ने आने लगे। उस समय की बदलती हुई प्रवेश नीति के तहत अनुसूचित जाति (एससी) को नौ, अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) को छः और इसके अलावा अत्यधिक पिछले क्षेत्र से आने वाले छात्रों को चार और अपेक्षाकृत कम पिछले क्षेत्रों से आने वाले छात्रों को दो डेप्रीवेशन पॉइंट मिलता था। इसके अलावा आर्थिक रूप से पिछले छात्रों को भी डेप्रीवेशन पॉइंट मिलता था। इसमें अधिकतम 7 पॉइंट मिल सकता था। किसी छात्र के परिवार की आमदनी जितनी कम होती थी, उसे इसके तहत उतना अधिक पॉइंट मिलता था। फिर बाद में प्रवेश नीति में और भी बहुत बदलाव हुए। यह भी कहा गया कि कोई छात्र इन तीनों सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय - में से केवल दो कैटेगरी में ही डेप्रीवेशन पॉइंट पाने का हकदार हो सकता है। फिर इस डेप्रीवेशन पॉइंट की व्यवस्था को हटा दिया गया। दूबारा, जब नब्बे के दशक में यह व्यवस्था फिर से लागू की गई तो इसमें सिर्फ क्षेत्रीय पिछड़ापन के आधार पर डेप्रीवेशन पॉइंट मिलता था। फिर स्त्रियों को भी डेप्रीवेशन पॉइंट मिलने लगा। अब

जब मैं पिछले साल डिप्रेषन पॉइंट कमेटी का अध्यक्ष था तो हमने डेप्रीवेशन पॉइंट की व्यवस्था थोड़ी अलग तरह से की। कुल डेप्रीवेशन पॉइंट को बढ़ाकर बारह कर दिया गया। क्षेत्रीय पिछड़ापन के लिए अधिकतम सात पॉइंट किया गया। पहले क्षेत्रीय आधार पर डेप्रीवेशन पॉइंट का आकलन किसी भी पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए निर्धारित की गई शैक्षिक योग्यता प्राप्त किए जाने वाले क्षेत्र के आधार पर होता था। परंतु हमने उसमें थोड़ा बदलाव किया है। उदाहरण के लिए यदि कोई एम फिल में प्रवेश के लिए आवेदन करता है, और यदि उसने बी.ए और एम.ए दोनों पिछड़े क्षेत्र से किया है तो उसे पूरा का पूरा छः पॉइंट मिल सकता है। परंतु यदि किसी ने कोई एक किया है तो उस हिसाब से उसे पॉइंट मिलेगा। इन सभी प्रयासों से विश्वविद्यालय में सामाजिक, सांस्कृतिक और लैंगिक विविधता बढ़ी है। यही कारण है कि विश्वविद्यालय में छात्राओं का प्रतिशत छात्रों से अधिक है, प्रतिवर्ष अलग-अलग राज्यों के छात्रों का यहाँ पर बड़ी संख्या में प्रवेश हो रहा है, जिससे परिसर में सांस्कृतिक और अन्य विविधता बढ़ी है।

आज के समय में परिसर सांस्कृतिक रूप से अधिक समृद्ध है। परंतु हमारे समय में जेएनयू में एक-दो ही सांस्कृतिक संगठन थे, जैसे - उड़ीसा सांस्कृतिक परिषद आदि। अस्सी के दशक में संभवतः पाटलिपुत्र सांस्कृतिक संगठन बना। परंतु आज तमिल, तेलुगू, कश्मीरी, बंगाली आदि सभी अपने-अपने सांस्कृतिक कार्यक्रम यहां करते हैं। उस समय यहाँ पर केवल बंगाली और उड़िया लोग सरस्वती पूजा करते थे। बाद में 1998 ई. के बाद दुर्गापूजा भी की जाने लगी। उस समय में जेएनयू का सांस्कृतिक क्लब बहुत सक्रिय था। इन सांस्कृतिक क्लबों के कार्यक्रमों में बड़े-बड़े संस्कृति-कर्मी और कलाकार आदि आया करते थे। क्लब तो आज भी हैं। जैसे - माउटेनयेरिंग, फोटोग्राफी आदि। परंतु हमारे समय में सांस्कृतिक क्लब बहुत अधिक सक्रिय होता था। पहले हॉस्टल नाइट नहीं होता था। संभवतः 1984-85 ई. के बाद से हॉस्टल नाइट आरंभ हुआ। इस तरह जेएनयू में धीरे-धीरे हमारे समय और आज के समय में बहुत अंतर आ गया है।

उस समय परिसर छोटा हुआ करता था, तो सब लोग एक दूसरे को जानते थे। हम सभी कर्मचारी, स्टाफ, शिक्षकों और लगभग सभी छात्रों को भी जानते थे। परंतु आज के छात्र संभवतः अपने कमरे के बगल वाले कमरे के लड़कों को भी न जानता हो। इसके अलावा हम लोग जो उड़ीसा से आए थे, हमें दिल्ली के खान-पान की जानकारी नहीं थी। हमने छोले-भटूरे, कुलचे, राजमा आदि का नाम कभी नहीं सुना था। इस तरह के नए खानपान से रूबरू होकर हमें बहुत अच्छा लगा। यह ठीक है कि आरंभ में हम नोस्टाल्जिक होने लगते हैं - घर का खाना, घर की रोटी आदि

की बात करते हैं। परंतु बाद में सब अच्छा लगने लगता है। जैसे चाइनीज नुडल उस समय तो उड़ीसा में मिलता नहीं था। परंतु यहाँ आकर हमने खाना आरंभ किया और बहुत अच्छा भी लगा। दिल्ली की खाने की यह विविधता बहुत अच्छी बात है। हम लोगों ने यहाँ आकर धीरे-धीरे अपने खाने के स्वाद में बदलाव किया। अब तो हमलोग अपने घरों में भी यही सब ज्यादा खाते हैं।

खाने के अलावा दिल्ली आने पर भाषा के स्तर पर बहुत अधिक सुधार और परिष्कार हुआ। हम लोग उड़ीसा में उड़िया या थोड़ा-बहुत अंग्रेजी पढ़ते समझते थे। परंतु यहाँ आने पर न केवल अंग्रेजी भाषा को और भी अधिक अच्छे से सीखने समझने के अवसर मिले बल्कि हिंदी लिखना, बोलना, पढ़ना भी आ गया। इसके अलावा पहली बार हम लोगों को यहाँ पर देश के विभिन्न भागों की संस्कृति, चरित्र, सोचने-समझने के ढंग आदि की जानकारी हुई। पहली बार यहाँ दूसरी भाषा, दूसरी संस्कृति, दूसरे क्षेत्र के लोगों को जानने का समझने का अवसर मिला। अब हम एक दूसरे के बारे में बहुत सारी नई बातों को जानते और समझते हैं। जैसे यहाँ आने से पहले मुझे पता नहीं था कि पोंगल, छठ पूजा आदि क्या होता है। हमें क्या पता था कि बिहार के लोग कौन सी भाषा बोलते होंगे? हम तो यही सोचते थे कि वह हिंदी बोलते होंगे। परंतु यहाँ आकर पता चला कि वहाँ हिंदी, मैथिली, भोजपुरी, अंगिका और मगधी आदि सभी तरह की भाषाएं बोली जाती हैं। नए क्षेत्रों और इलाकों के छात्रों से हमारी दोस्ती हुई। जिन छात्रों ने अपने क्षेत्रों, अपने इलाकों के बाहर की छात्रों से दोस्ती की, उनके व्यक्तित्व में बहुत सारे नई चीजों का समावेश हुआ। उनका व्यक्तित्व काफी डायनामिक बना। जैसे कि मेरी मित्रता ज्यादातर बिहार के छात्रों से हुई, इससे मेरी हिंदी में बहुत सुधार हुआ।

इस तरह हमारे व्यक्तित्व का विकास जेएनयू में ही हुआ है। हम बाईस तेईस साल की उम्र में जेएनयू में आए थे। बहुत छोटे थे, छोटे शहर और छोटे विद्यालयों से पढ़कर आए थे। उड़ीसा से बाहर कभी गए नहीं थे। दुनिया हमने देखा नहीं था। इसलिए आज जो कुछ भी मेरे व्यक्तित्व में है, वह सब जेएनयू का ही दिया हुआ है। सार्वजनिक और अकादमिक जीवन में आज तक मैंने जो कुछ भी कमाया है, वह सब जेएनयू में ही संभव था। क्योंकि पहला तो जेएनयू एक शोध विश्वविद्यालय था, इसलिए और दूसरा क्योंकि यहाँ अपनी तरह से सोचने समझने लिखने-पढ़ने शोध करने की आजादी थी। हम शिक्षकों से कक्षाओं में बिना किसी भी भय के स्वतंत्र होकर सवाल पूछ सकते थे। शिक्षकों उनसे इतर दृष्टि और विचार रखने का भी स्पेस देते थे। इस तरह की हर एक स्तर पर जो स्वतंत्रता और विविधता इस विश्वविद्यालय में थी, वही सब तो आज मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा है। इस तरह मैंने पूरी दुनिया को पहली बार जेएनयू की आँखों से ही देखा। यहाँ आने से पहले मेरी मानसिकता जरूर थोड़ी संकीर्ण थी, जिसका यहाँ पर आकर काफी विस्तार हुआ।

राजनीतिक दृष्टि से भी कैंपस में काफी बदलाव हुए हैं। पहले हम राजनीतिक विरोधियों, हमारी पार्टी के खिलाफ वोट करने वाले लोगों प्रतिनिधियों आदि के साथ अच्छे से मिलते-जुलते थे, हंसते-बोलते थे, साथ में चाय-नाश्ता करते थे। परंतु आज

परिसर में राजनीतिक रूप से विचारधारा के आधार पर इतना अधिक ध्रुवीकरण हो गया है कि वामपंथ और दक्षिणपंथ में व्यक्तिगत स्तर पर भी कोई संबंध, संवाद आदि नहीं है। इसलिए आज बड़े-बड़े देशी-विदेशी नेता, राजनयिक, जनप्रतिनिधि, विद्वान आदि जेएनयू में आकर बोलने से डरते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उनके विरोधी खेमे के लोग उनका बहुत अधिक विरोध करेंगे, उन्हें बोलने नहीं देंगे। परंतु पहले ऐसा नहीं था। हम सुनते थे, प्रश्न करते थे, डिबेट की एक संस्कृति थी परंतु अब यह सब धीरे-धीरे खत्म होता जा रहा है। एक दूसरे और अपने विरोधी विचारधारा के लोगों को सुनने की क्षमता धीरे-धीरे कम होती जा रही है। अब तो बोलने ही नहीं देने की परंपरा शुरू हो गई है।

आरंभ में जेएनयू में वामपंथियों का ही बोलबाला था। परंतु धीरे-धीरे नब्बे के दशक के बाद देश की राजनीति की दशा और दिशा में परिवर्तन होने से जेएनयू की राजनीति में भी परिवर्तन हुआ। केंद्र में वाजपेयी जी की सरकार बनने के बाद जेएनयू में भी दक्षिणपंथी राजनीति का प्रमुखता से हस्तक्षेप बढ़ा। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि जिन राज्यों में भाजपा की सरकार थी या बनी, वहाँ के छात्र भी स्वाभाविक रूप से भाजपा से प्रभावित थे। उन लोगों ने जेएनयू में दक्षिणपंथी विचारधारा और राजनीति के विकास और विस्तार में सहयोग दिया। फिर भी कहा जा सकता है कि जेएनयू में छात्रों का अलग तरह से समाजीकरण होता है। हम अलग-अलग जातियों, संस्कारों, क्षेत्रों, विचारधाराओं, प्राथमिकताओं आदि को लेकर यहाँ आते हैं। परंतु जेएनयू में देश की एक साझी परंपरा, विरासत, संस्कृति आदि के अंग के रूप में ढल जाते हैं। हमारी विचारधारा और अन्य सभी चीजों में यहाँ पर धीरे-धीरे बदलाव होता रहता है। यहाँ पर सब कुछ को मिला-जुला कर एक संस्कृति बनती है और इस तरह की संस्कृति जेएनयू में हमेशा से बनी हुई है। वामपंथ दक्षिणपंथ या फिर और भी जितने अधिक खेमों में चाहे हम लोग यहाँ बंटे हुए हों, फिर भी हम इन सब चीजों को एक संस्कृति का हिस्सा मानकर इसमें मिल जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि यहाँ के दक्षिणपंथी भी दूसरे विश्वविद्यालयों की दक्षिणपंथियों से भिन्न और अधिक लिबरल हैं। ये दूसरे जगह अपने संगठनों में जेएनयू के इस मूल्य और संस्कृति को लेकर जाते हैं।

जेएनयू का देश में सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने देश के हरेक क्षेत्रों के गरीब से गरीब छात्रों को यहाँ आकर पढ़ने, अपनी जिंदगी बेहतर बनाने और देश के विकास में योगदान देने की सुविधा देता है। जिनके परिवार के लोगों ने पहले कभी कोई आयकर नहीं दिया है, यह उनको इस योग्य बनाता है कि वह भारत सरकार को आयकर दे सके। इसलिए प्रोफेसर के रूप में यहाँ से सेवानिवृत्त हो जाने के बाद भी जेएनयू से हमारा रिश्ता हमेशा बना रहेगा। चाहे हम जहाँ कुछ भी, जो कुछ भी करते रहें, जेएनयू से हमारा रिश्ता हमेशा बना रहेगा। सेवानिवृत्ति के बाद भी हमारा हेल्थ चेकअप, मेडिसिन, रोज की खरीददारी यहीं से होती रहेगी। हमारा विश्वविद्यालय या हमारा विभाग-केंद्र जब कभी भी हमें बुलाएगा, हम उसके लिए मना नहीं कर पाएंगे क्योंकि जेएनयू की शकल देखे बिना, इससे जुड़े रहे बिना मुझे भी अच्छा ही नहीं लगेगा।

हिंदी पाठ्यक्रम

संयोजन : सुशील कुमार और प्रदीप कुमार ।

लिप्यान्तरण : धनंजय प्रताप

आज के बदलते हुए परिदृश्य में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्ययन की संभावना और महत्ता को लेकर छात्रों से लेकर तमाम विश्वविद्यालयों और अन्य शैक्षणिक संस्थानों में नए तरीके से सोच-विचार किया जा रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय भाषा केन्द्र जेएनयू एम.ए. के पाठ्यक्रम की नयी दिशाएं और संभावनाएं तय करने के उद्देश्य से इस परिसंवाद के अन्तर्गत भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यापक प्रो. रामबक्ष जाट, प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे, प्रो. रामचन्द्र, प्रो. गरिमा श्रीवास्तव और डॉ. पूनम कुमारी के विचार प्रस्तुत हैं। जेएनयू परिसर के लिए इस परिसंवाद का संयोजन किया है भारतीय भाषा केन्द्र के शोधार्थी सुशील कुमार और प्रदीप कुमार। इस परिसंवाद के अंतर्गत सभी अध्यापकों से तीन प्रश्न पूछे गए, प्रश्न हैं:

1. स्नातकोत्तर (परास्नातक) के हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम को लेकर आपकी क्या राय है?
2. इसमें किस तरह के संशोधन और सुधार की जरूरत है?
3. भविष्य में हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम का स्वरूप कैसा होगा?

प्रो. रामबक्ष

1. एम ए का पाठ्यक्रम अच्छा लगा, हमारे पाठ्यक्रम का अच्छा हिस्सा मूल्यांकन प्रणाली है। यह जो मूल्यांकन की एक पद्धति है यह भारत के बहुत कम विश्वविद्यालय में है। इस परीक्षा पद्धति को भी पाठ्यक्रम माना जाए तो बहुत अच्छा है। इसके कारण विद्यार्थी का आपसी रिश्ता अच्छा बनता है। मान लीजिए कोई टर्म पेपर लिखना है। आमतौर पर माना जाता है कि विद्यार्थी नकल करेगा, नकल रोकनी है। यहाँ पर ऐसा नहीं होता है। हम विद्यार्थियों पर विश्वास करते हैं। इसलिए हम कहते हैं, आप अपने कमरे (घर) में बैठ कर किसी विषय पर आप अपना टर्म पेपर लिखकर हमको दे दो। यह विषय कक्षा में तय हो जाएगा। उसका आप पढ़ लो, जहाँ पर जो कुछ भी उस विषय पर मिलता है। आप को जिससे विचार-विमर्श करना है, विचार-विमर्श कर लो। किसी से बात करनी है, कर लो। किसी किताब की सहायता लेनी है, तो आप ले लो। यह जो काम करके लाते हो अपने कमरे से, यह एक विश्वास से आता है। दूसरी बात यह है कि एक पेपर होता है क्लास टेस्ट के रूप में। जिसमें मैंने कक्षा के अन्दर जो पढ़ाया है, उसको आप ने कैसे और कितना समझा है। यह मेरे मूल्यांकन का आधार हैं उसमें जो विद्यार्थी अच्छे अंक लाता है मेरे हिसाब से वो ही ठीक होता है। इसमें आपको कोई किताब की जरूरत नहीं, कोई उदाहरण नहीं देना है। यह बहुत अच्छी चीज है। तीसरी बात यह है कि सेमिनार प्रस्तुत करना होता है। कई बार ऐसा होता है। कि जब तक हम दूसरों के सामने नहीं बोलते हैं, हमको लगता है कि मुझे बहुत-बहुत ज्ञान आता है फिर जब बोलने लगते हैं तब भूल जाते हैं एक हिचक होती है इस सेमिनार से विद्यार्थी की हिचक समाप्त हो जाती है और फिर वह या तो सबकी निंदा करना बंद कर देता है या वो अपनी गलतियों का

स्वयं ही मूल्यांकन करता है। यह मुझसे गलती हो गयी कि मैं ठीक से नहीं बोल पाया।

सिद्धान्त की जानकारी से विद्यार्थी साहित्य ज्यादा अच्छी तरह से समझ पाते हैं। जैसे: साहित्य और विचारधारा है, और पाश्चात्य काव्यशास्त्र है, या काव्यशास्त्र वाला हिस्सा है। यह मुझे लगता है कि भारतीय भाषा केन्द्र का एक कमजोर हिस्सा भी है। कारण अलग हो सकता है। लेकिन इस पर जोर दिया जाना चाहिए। पहले बहुत जोर दिया जाता था। बाकी पाठ्यक्रम ठीक हैं। सारे भारत के विश्वविद्यालयों का लगभग एक ही जैसा पाठ्यक्रम है। वैसा यहाँ का भी है। कोई एक किताब लगाता है तो कोई दूसरी किताब लगा देता है। कोई खास फर्क नहीं है।

2. इसमें बहुत परिवर्तन की जरूरत है। जहाँ तक मेरी जानकारी है कि पिछले बीस सालों से इस पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। विश्वविद्यालय का जो पाठ्यक्रम बनता है और उसमें जो शिक्षण व्यवस्था है। उसमें शिक्षक को भी बहुत सुविधा दी गई है। आप जो पढ़ाना चाहते हो, वह पढ़ा दो और जो पढ़ा रहे हो, उसी से प्रश्न पूछ लेते हो। इससे मूल्यांकन भी प्रभावित होता है। मसलन आपने विद्यार्थियों को एक विषय दिया कहा इस पर टर्म पेपर लिख कर लाओ। वह सवाल आपने अगर पाँच साल पहले भी पूछा था जो वर्तमान समय में पूछा है। तो विद्यार्थी वही उतार लाते हैं। आप को बहुत दिनों तक पता नहीं चलता है। जिससे विद्यार्थियों का सम्पूर्णता में विकास नहीं हो पाता है। वो एक तरह की चीजें जो 5 पीढ़ी पहले विद्यार्थी ने पढ़ा था। विद्यार्थी वही पढ़ कर आ जाते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इसमें बहुत सारे पाठ हैं, उसमें परिवर्तन होना चाहिए और कम-से-कम हर 5 साल बाद में तो अनिवार्य पाठ्य-पुस्तक में परिवर्तन हो जाना चाहिए। हमने कोशिश की पर असफल हो गया। क्योंकि विरोध होता है।

3. जो हमारी हिंदी की सर्जनात्मकता है उस सर्जनात्मकता को हमारा विद्यार्थी समझ लें। क्योंकि वह एम.ए. में होता है। मास्टर में हम मानते हैं कि आप की साहित्य की समझ विकसित हो जाती है। इस समय तक ऐसा प्रयास होना चाहिए कि नया साहित्य चिंतन विकसित हुआ है। वो नया साहित्य चिंतन आप के पाठ्यक्रम में आना चाहिए, मसलन तुलनात्मक साहित्य। हमारा जो विद्यार्थी है, वो तुलनात्मक साहित्य जानता ही नहीं। वो क्या करता है। सूर और तुलसी की तुलना को ही तुलनात्मक साहित्य मान लेता है। जबकि तुलनात्मक साहित्य यह नहीं है। इसी तरह से जो हमारे चिंतक हैं, जैसे : पाश्चात्य काव्यशास्त्र यहाँ पढ़ाया जाता है। तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र नई समीक्षा (यानी 1960) के बाद समाप्त हो जाता है। जेएनयू के पाठ्यक्रम में और 1960 के बाद में संसार के साहित्य चिंतन में मूलभूत परिवर्तन हो चुका है। आप उस परिवर्तन के अनुसार चलें या न चलें लेकिन आप को उसकी जानकारी होनी चाहिए। इसलिए हमारे पाठ्यक्रम का हिस्सा आधुनिकतावाद है लेकिन इस समय उत्तर-आधुनिकतावाद है। आप जब तक उत्तर-आधुनिकतावाद का पूरा स्वरूप नहीं समझेंगे तब तक यह अस्मितामूलक विमर्श के नाम पर पाठ्यक्रम में जो चलता है उसको भी नहीं समझेंगे। और तब तक आप की सम्पूर्ण समाज की समझ विकसित नहीं हो पाएगी। और बाद में कुछ साहित्य सिद्धांत ऐसे आए हैं जिनका सूत्रपात साहित्यिक आचार्यों ने नहीं किया। जैसे : रस सम्प्रदाय साहित्यिक आचार्यों ने किया। इसी तरह से अनुकरण का सिद्धांत साहित्यिक आचार्यों ने किया। लेकिन फ्रायड ने जो मनोविश्लेषण किया, वो तो साहित्यिक नहीं है लेकिन उसके आधार पर साहित्य लिखा गया। अस्तित्ववाद के अनुसार साहित्य लिखा गया। इसी तरह से संरचनावाद की जो शुरुआत है वह भाषा विज्ञान से हुई है और उस संरचनावाद का आगे चलकर बहुत विकास हुआ। तो वो संरचनावाद आप के पाठ्यक्रम में नहीं है। अब तो उत्तरसंरचनावाद हो गया है। तो जो समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, राजनीति शास्त्रियों ने पूरा विश्लेषण किया है। उस विश्लेषण को हम जानते ही नहीं हैं और हमारे विद्यार्थी भी नहीं जानते हैं। स्वाध्याय का ही भरोसा होता है स्वाध्याय के अनुसार आगे चलते हैं और अगर स्वाध्याय आपका कमजोर है तो फिर आगे वाला साहित्य भी कमजोर हो जाएगा। विशेषरूप से समकालीन साहित्य चिंतन पाठ्यक्रम में अवश्य होना चाहिए। दूसरी बात यह होनी चाहिए कि जो विरोधी विचारधाराएँ हैं उनमें से विरोधी विचारधाराओं की दोनों किस्मों की जानकारी होनी चाहिए। जितने भी विरोधी विचार हैं वो हमारे विद्यार्थियों को सब कुछ की जानकारी होनी चाहिए। आप किस विचार का पक्ष लेते हो किसका पक्ष नहीं लेते हो। यह एम.ए. के बाद की बात है। अब तक आप को डिक्शनरी या शब्दकोश या विश्वकोश की तरह से जान लेना चाहिए कि यह विचार है क्या? फिर आप जानिए यह फलां विचारधारा अच्छी है या बुरी। पहले

उस विचारधारा के बारे में सबको मालूम तो होना चाहिए। हमारे यहाँ क्या होता है कि पढ़ने के क्रम में फटाक से कह देते हैं कि यह विचार प्रतिक्रियावादी, प्रगतिशील है। यह विचार बहुत अच्छा है। होगा अच्छा! पहले तो यह जानिए कि यह विचार है क्या? यह जानों कि यह है क्या? इस पर जोर दिया जाना चाहिए। जब हैं क्या? यह जान जाएंगे? तब आप निर्णय स्वयं ले लेंगे। फिर वह विद्यार्थी खुद ही अच्छी विचारधारा का चुनाव कर लेगा। इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए।

तीसरी बात यह कि पाठ्यक्रम में या विद्यार्थियों के बीच यह आए कि आप भविष्य का समाज कैसा चाहते हो। या कैसा बनेगा। आपके चाहने या न चाहने से कुछ नहीं होगा। यह समाज जिस दिशा में जा रहा है। साहित्य भी उसी दिशा में जाएगा। हमको उसका पता होना चाहिए। इसके अलावा हमारे हिंदी के विद्यार्थियों के लिए कम्प्यूटर शिक्षा मूलभूत होनी चाहिए। इसे पाठ्यक्रमों में दो क्रेडिट या एक क्रेडिट या जितना हो। पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए। नहीं तो नए उपकरण का इस्तेमाल आप कैसे करेंगे। इंटरनेट से रीडिंग मटेरियल कैसे इस्तेमाल करेंगे। चौथी बात यह है कि हिंदी के भरोसे हिंदी नहीं रहती है। आप को भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी को जानना समझना चाहिए। कोशिश यह रहनी चाहिए की हर विद्यार्थी को एक अन्य भारतीय भाषा आना चाहिए। जिसे वह पढ़े और जाने। पाठ्यक्रम में विकल्प या अन्य पेपर हो सकता है। हमारा त्रिभाषा फार्मूला हिंदी प्रांतीय प्रदेशों ने लागू ही नहीं किया। जिससे हमारे पास बहुत कम ही भाषा है। उसका पालन करना चाहिए। इस समय बहुभाषिकता का जमाना है। आपको अनेक भाषाएँ आनी चाहिए।

प्रो. देवेन्द्र चौबे

1. भारतीय विश्वविद्यालयों में जो हिंदी की पढ़ाई होती है, खासकर एम.ए. के स्तर पर उसको कई हिस्सों में बांटा गया है। जैसे : कविता के पत्र हैं, कथा साहित्य के पत्र हैं, नाटक के हैं, भाषा विज्ञान के हैं, या फिर हिंदी साहित्य का इतिहास है, अनेक चीजें हैं। जाहिर है कि साहित्य के विद्यार्थी को या फिर हिंदी साहित्य के छात्र को प्राथमिक तौर पर भाषा विज्ञान की जानकारी बहुत जरूरी है। जो हमारा पूरा काव्य साहित्य का इतिहास है। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक, उसकी भी जानकारी होना बहुत जरूरी है। इसी तरह से जो हमारा हिंदी का कथा साहित्य है; चाहे वह उपन्यास या कहानी हो उसका उदय और विकास यह सब जानना बहुत जरूरी है। इसी तरह से नाटक या नाट्य विधा की जानकारी भी।

तो मूलतः हम यह कह सकते हैं कि हमारा हिंदी का जो पूरा पाठ्यक्रम है वह भाषा विज्ञान और साहित्य का इतिहास, फिर गद्य साहित्य और एक तरह से कई विधाओं में बंटा हुआ है। जिसका हम पठन-पाठन करते हैं। कई बार इतिहास में हम ज्ञान के

साहित्य की चर्चा करते हैं। मूलतः हम कह सकते हैं कि जो अभी हम हिंदी साहित्य विश्वविद्यालयों में पढ़ा रहे हैं। दरअसल, इन्हीं चीजों को पढ़ा रहे हैं।

जो दूसरा सवाल आपका है वह काफी महत्वपूर्ण है। मुझे लगता है कई जगह हिंदी भाषा की पढ़ाई होती है। उसमें लोग लिंग्विस्टिक स्तर की पढ़ाई नहीं करते हैं। सिर्फ हम हिंदी भाषा के उदय एवं विकास की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। जबकि मुझे लगता है कि उसे भी पढ़ाया जाना बहुत जरूरी है। उसमें भी थोड़ा सुधार करना चाहिए। भाषा-विज्ञान के स्तर पर हिंदी का पठन-पाठन होना चाहिए। यद्यपि यह बहुत बड़ा डिबेट का विषय है। लिंग्विस्टिक एकदम अलग चीज है, हिंदी भाषा और उर्दू भाषा से कोई मतलब नहीं है। उसका अपना अलग-अलग शास्त्र होता है, उसको उसी तरह से देखा जा सकता है। मुझे लगता है उस स्तर पर भी हिंदी भाषा के छात्रों को भी पढ़ाया जाना चाहिए। कई विश्वविद्यालयों में ऐसा होता है, कई विश्वविद्यालयों में ऐसा नहीं होता है। दूसरा जो मुझे साहित्य के इतिहास के मामले में लगता है। वह यह कि साहित्य का इतिहास एक जटिल सवाल है। आदिकाल में हम मैथिली भाषा या अपभ्रंश साहित्य को पढ़ाते हैं। मध्यकाल में या आदिकाल में अपभ्रंश साहित्य है, मैथिली है, ब्रज है, अवधी है, बहुत सारी भाषाएँ हैं। उस जमाने के साहित्य को हम हिंदी साहित्य में पढ़ा रहे हैं। आधुनिक काल में हम आकर कविता में ब्रजभाषा पढ़ाते हैं भारतेंदु के चलते। फिर 1900 ईस्वी में खड़ी बोली का साहित्य है उसको हम पढ़ाते हैं। मुझे बार-बार लगता है कि हिंदी का जो पाठ्यक्रम है बना होगा या बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में जब से पढ़ाई शुरू हुई होगी और रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वान पाठ्यक्रम के बारे में सोचा होगा, तो उस समय एक तरह से ढांचा बना रहे थे। उस हिंदी के ढांचा बनाने की प्रक्रिया में उन्होंने देखा कि खड़ी बोली का जो पूरा साहित्य है, जो मुश्किल से 1857 या उसके बाद 1903 में फोर्ट विलियम कॉलेज से बनता है। काव्य के क्षेत्र में या अन्य क्षेत्रों में 1903 के बाद बनता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती पत्रिका के संपादक होते हैं। मूलतः खड़ी बोली को हिंदी भाषा और साहित्य का हिस्सा मानते हैं या फिर जोड़ से पूरा हिंदी साहित्य का इतिहास 1803 के बाद बनता है।

मुझे लगता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल को लगा कि हिंदी की समृद्ध परंपरा नहीं बन सकती तब वे थोड़ा पीछे जाते हैं और रीतिकाल के सारे कवियों को शामिल करते हैं चाहे वो ब्रज में हो, अवधी में हो और थोड़ा पीछे जाते हैं, ब्रज, अवधी, राजस्थानी इन सारी बोलियों को साहित्य में शामिल करते हैं। और थोड़ा पीछे जाते हैं अपभ्रंश या कहे 768 के बाद पूरे बौद्ध साहित्य को शामिल करते हैं। जो हमारा पूरा हिंदी साहित्य का इतिहास है वह एक अलग तरह का है। इसी तरह से हमारे पढ़ाई का करिकुलम भी। मुझे लगता है, दो चीजें है जिस पर हमें पुनः विचार करना

चाहिए। जिस पर सुधार की संभावना है। अगर हम मध्यकाल में पढ़ा रहे, तो आधुनिक काल में मैथिली की कविता को क्यों नहीं पढ़ा रहे हैं? इसी तरह से हम अवधी के कवि को मध्यकाल में पढ़ा रहे हैं या उसके बाद भी पढ़ा रहे हैं, तो आधुनिक काल में हम ब्रज और अवधी क्यों नहीं पढ़ा रहे हैं? आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? इस पर हमें थोड़ा पुनर्विचार करना चाहिए। अवधी, ब्रज या ये सारी भाषाएँ हैं जो मध्यकाल की उनके साहित्य को लगातार पढ़ाते रहे हैं। तब जो लोग डिमांड करते हैं, भोजपुरी भाषा को अलग करने की बात होती है, अवधी को अलग करने की बात होती है। तब हम कह सकते हैं कि उनको हम अपने हिस्से में शामिल नहीं करेंगे। इसको लेकर बहुत बड़ी बहस है। हिंदी साहित्य में रामविलास शर्मा से लेकर नामवर सिंह या मैनेजर पाण्डेय जैसे आलोचक बहुत बातचीत करते हैं। लेकिन मुझे बार-बार लगता है हिंदी साहित्य का इतिहास जो लिखा जाता है उसमें आधुनिक काल में हमारे जो मध्यकाल के मध्यकालीन साहित्य के भाषा-साहित्य को आधुनिक साहित्य में शामिल नहीं करते लेकिन आज भी हम उन्हें अपना नहीं मानते हैं। भोजपुरी को अपना मानते हैं। मैथिली को अपना मानते हैं। ब्रज को मानते हैं सबको अपना मानते हैं। लेकिन समकालीन या आधुनिक काव्य में हम क्यों नहीं पढ़ाते हैं? दूसरा इसमें आप गौर करेंगे कि इसमें जो सारा मामला है इसमें सुधार की बातें दिखाई पड़ती हैं। सारी भाषाओं में जो हिंदी की भाषाएँ बोली जाती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जब हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते हैं तो उसमें भोजपुरी भाषा के किसी कवि लेखक की चर्चा नहीं करते न ही आधुनिक काल में करते हैं। जिसका नतीजा यह निकलता है कि आधुनिककाल के बाद के जो इतिहासकार है क्यों भोजपुरी लिखित साहित्य छोड़ देते हैं। कबीर के बारे में मैनेजर पाण्डेय पटना में कहीं भाषण दिया था और उसमें कहा था कबीर भोजपुरी के कवि हैं। कबीर के जो पद हैं, कबीर का जो काव्य साहित्य है उस पर भोजपुरी का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिसे शुक्ल जी सधुक्की भाषा कह कर टाल देते हैं। तो हमें इस पर सोचना चाहिए आखिर क्यों जो हमारे प्रारंभिक पाठ्यक्रम के निर्माता थे जो भोजपुरी को एकदम अलग कर दिया उसको आधुनिककाल में शामिल क्यों नहीं किया। मुझे लगता है कि जो मध्यकाल का साहित्य है उसमें भोजपुरी के कवि को शामिल किया जाना चाहिए। रीतिकाल में जो भोजपुरी के कवि हैं उसको भी शामिल करना चाहिए। ये जो पूरा अन्तर्विरोध हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम में है उस पर पुनर्विचार करना चाहिए।

प्रो. रामचंद्र

1. भारतीय भाषा केन्द्र, जेएनयू का पाठ्यक्रम अन्य विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों के पाठ्यक्रमों से बेहतर है। पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिकी के साथ-साथ वैचारिकी के लिए भी जगह है हमारे पाठ्यक्रम में पर्याप्त वैचारिक भिन्नता और खुलापन है। अन्य

विश्वविद्यालयों में यह पढ़ाया जाता है तो वह नहीं पढ़ाया जाता। इसके अलावा यहाँ पाठ्यक्रम में साहित्यिक पाठ के रूप में जो भी कहानी, उपन्यास आदि शामिल किए गए हैं उनके पीछे एक खास सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक सत्यों को खोलकर रखने वाली दृष्टि और परिपेक्ष्य है।

2. इतिहास और साहित्य की नई दृष्टियों को भी शामिल करने की जरूरत है। अब अम्बेडकरवादी, स्त्रीवादी और अन्य हाशिए की रचनाओं को और उससे बनने वाली सैद्धान्तिकी को समझने की जरूरत है। विगत बीस वर्षों में लिखी गई बहुत सारी रचनाओं को शामिल किए जाने की जरूरत है। इसके अलावा, हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम को अंतर विषयक पाठ्यक्रम से जोड़ा जाना चाहिए। खासकर सामाजिक विज्ञान से जुड़े सभी विषयों से उसका तालमेल हो। फिर भाषा विज्ञान और भाषा तकनीक से जुड़े पेपर को भी शामिल किया जाना चाहिए।

आज का छात्र आधुनिक काल से पूर्व की रचनाओं में कोई खास रुचि नहीं रखता। भाषा की समस्या के कारण विशेषतौर से रचनाओं को पढ़ने और समझने में दिक्कत होती है। मुझे लगता है कि आदिकाल से रीतिकाल तक को एक पेपर में पढ़ाया जाना चाहिए और शेष पाठ्यक्रम आधुनिककाल से लेकर अद्यतन रचनाओं को लेकर बनाया जाना चाहिए। इससे पाठ्यक्रम ज्यादा रुचिकर और छात्रों में लोकप्रिय हो सकेगा।

मेरी राय में पाठ्यक्रम को दो भाग में पढ़ाया जाना चाहिए। पहला, साहित्य का सैद्धांतिक पक्ष चाहे वह पाश्चात्य हो या भारतीय उसका सम्यक और सटीक अध्ययन हो। दूसरा, भारत का जो सामाजिक, राजनितिक, सांस्कृतिक और आलथक परिवेश है और जिस तरह से भाषा और संस्कृति के स्तर पर भिन्नता है और इसलिए जटिलता और संश्लिष्टता भी है तो ऐसे परिस्थिति में रचना और रचनाकारों के सरोकारों का जो वर्तमान परिपेक्ष्य है उसको ध्यान में रखते हुए अध्ययन इसके अलावा, पाठ्यक्रम के द्वारा वर्तमान युग के जल्दी-जल्दी बदलते परिवेश में एक ऐसा इंसान बनाने की प्राविधि तैयार हो सके जिसके आलोक में समृद्ध सुदृढ़ अखंड और समतापरक भारत का निर्माण हो सके। तभी पाठ्यक्रम की सार्थकता सच्चे मायने में सिद्ध होगी।

3. मुझे लगता है कि भविष्य में पाठ्यक्रम को व्यावसायिक संदर्भ में प्रस्तुत करने के गंभीर प्रयास होंगे। इस पर सिर्फ भारतीय भाषा केंद्र, जेएनयू को ही नहीं वरन् सभी विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों को सोचने की जरूरत है। फिर, नई तकनीक से भाषा और साहित्य को जोड़ा जाएगा ताकि ज्ञान के स्रोत को परिवर्धित किया जा सके और उसे विश्व के दूसरे पटल पर भी पहुंचाया जा सके। पुस्तकों और अन्य अध्ययन सामग्री का डिजिटलीकरण होगा। ऑनलाइन पुस्तकालय बनेंगे। पाठ्यक्रम के निर्माण में अध्ययनरत छात्रों के अनुभव, रुचि और उनकी आपेक्षाओं का पर्याप्त ध्यान

रखा जाएगा जिससे पाठ्यक्रम उनपर थोपा हुआ नहीं लगेगा और वे इससे अपने आपको जोड़ पाएंगे।

प्रो. गरिमा श्रीवास्तव

1. देशभर के भिन्न-भिन्न केंद्रीय और राज्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में थोड़ी बहुत भिन्नता है, और समानता हो भी नहीं सकती है, क्योंकि सभी विश्वविद्यालयों और उनके छात्रों की जरूरतें अलग हैं। यदि हम राष्ट्रीय स्तर पर एक तरह के पाठ्यक्रम बनाए तो छात्रों को बहुत दिक्कतें होंगी और संभव है कि शिक्षकों के लिए भी समस्याएँ उत्पन्न हो।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने पाठ्यक्रम का एक पूरा खाका तैयार करके विश्वविद्यालयों में भेज दिया और कहा कि आप अपनी अपनी रुचि और सुविधा से उसमें से पेपर चुन लीजिए। तो सभी विश्वविद्यालयों ने उसमें से पेपर चुन लिए। कुछ विश्वविद्यालयों ने अपनी तरफ से भी कुछ पेपर जोड़े और कुछ ने संशोधन किए। सभी विश्वविद्यालयों की कोशिश रहती है कि एक छात्र जो हिंदी में स्नातकोत्तर की उपाधि लेता है उसको कम से कम हिंदी के प्रतिनिधि रचनाओं और रचनाकारों की जानकारी हो और वह उसकी व्याख्या कर सके। इसी कारण पाठ्यक्रम में किसी काल के सभी लेखकों और रचनाओं को शामिल नहीं किया जाता। लेकिन पढ़ाने वाले शिक्षकों से आपेक्षा की जाती है कि वो यदि कबीर पढ़ा रहा है तो तुकाराम आदि कवियों पर भी चर्चा करे। सूरदास पढ़ा रहे हैं तो नंददास की भी चर्चा करे। लेकिन व्यावहारिक रूप से ये हो रहा है कि कुछ प्रतिनिधि रचना और रचनाकारों को पढ़ाया जाता है और बाकि को छात्रों पर छोड़ दिया जाता है और छात्र भी आगे पढ़ने की जहमत नहीं उठाते।

2. स्नातकोत्तर के स्तर पर रोजगारपरक पाठ्यक्रम को जोड़ा जाना चाहिए ताकि छात्रों को रोजगार मिल सके। जेएनयू में स्नातकोत्तर के स्तर पर भाषा विज्ञान की पढाई नहीं होती है, उसको जोड़ना चाहिए। फिर पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की पढाई जरूरी है। इससे आदिकालीन साहित्य को समझने में मदद मिलेगी। इसके अलावा विदेशी और प्रवासी भाषा के साहित्य को भी पाठ्यक्रम का हिस्सा होना चाहिए। ऐच्छिक कोर्स के रूप में इन सबको शामिल किया जा सकता है।

रचनात्मक लेखन पर रुचिकर कार्यशालाएँ आयोजित किया जाना चाहिए। इससे साहित्य में रुचि बढ़ेगी। सेमिनार में सामान्यतः छात्रों की सम्यक और लगातार भागीदारी नहीं हो पाती है। फिर उस भागीदारी का बहुत कुछ रचनात्मक अर्थ भी नहीं निकलता है। कार्यशालाएँ एक बेहतर विकल्प हैं। पाठ्यक्रम निर्माण में छात्रों की रुचि का ध्यान रखा जाना चाहिए। पाठ्यक्रमों में प्रवेश के नियम मेरिट से नहीं बल्कि रुचि से तय किए जाने चाहिए।

3. संचार साधनों के विस्फोट के कारण छात्रों के पास एक तो समय नहीं है और दूसरा साहित्य पढ़ने में रुचि भी कम हो गई है। साहित्य के प्रति रुचि हम तभी जगा सकते हैं जब हम उन्हें पाठ्यक्रम की पुस्तकों से जुड़ी अन्य पुस्तकों की जानकारी भी हम उन्हें समय-समय पर उनके माध्यम से देते रहें। इसके लिए पाठ्यक्रम के पुस्तकों को डिजिटल रूप में प्रस्तुत करना होगा। ऐसा करने की कोशिश हो भी रही है। आजकल और भविष्य में भी साहित्य वेबसाइटों, व्हाट्सएप्प ग्रुप, ब्लॉग आदि माध्यम से भी पाठकों और छात्रों तक पहुंच रहा है और पहुंचेगा। भविष्य में पाठ्यक्रम के स्वरूप पर इन सब बातों का गहरा असर रहेगा।

डॉ. पूनम कुमारी

1. देशभर के विश्वविद्यालयों में दो तरह की स्थिति है। एक स्थिति तो यह है कि चुनिन्दा विश्वविद्यालयों में जैसे जेएनयू, बीएचयू, डीयू, आदि में पाठ्यक्रम की स्थिति काफी अच्छी दिखाई पड़ती है। लेकिन अगर हम बाकी क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को उठाकर देखते हैं तो इन दोनों में बहुत अंतर है। बड़े केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय स्तर पर लिखे जा रहे साहित्य का अध्ययन न के बराबर होता है। मुख्यधारा का साहित्य ही इन जगहों पर पढ़ाया जाता है। दूर-दराज के रचनाकारों और उनके साहित्य को यथानुकूल महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसके विपरीत क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय रचनाकारों को शायद क्षेत्रीयता के दबाव के चलते बहुत अधिक शामिल कर लिया जाता है। मेरा कहना है कि सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में क्षेत्रीयता और केन्द्रीयता का सुन्दर संतुलन होना चाहिए।

2. मेरा मानना है कि प्रत्येक सत्र में एक पेपर ऐसा रखा जाए जिसमें - चाहे उसका क्रेडिट कुछ भी क्यों न हो - हिंदी के वर्तमान और क्षेत्रीय साहित्य की चर्चा हो। हिंदी का पाठ्यक्रम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से कटा हुआ मालूम पड़ता है। यद्यपि फंक्शनल हिंदी

पढ़ाई जा रही है, हिंदी फॉण्ट में टाइपिंग हो रहा है। लेकिन फिर भी हिंदी साहित्य का व्यावहारिक जीवन से बहुत ज्यादा जुड़ाव नहीं लगता है। इसके लिए मुझे लगता है कि वर्कशॉप और सिंपोजियम की जरूरत है जिसमें रचनात्मक लेखन का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जा सके। प्रशिक्षण रचनात्मक प्रतिभा को निखारने में सहायक होगी और अध्ययन-अध्यापन रोचक भी होगा। इस तरह हिंदी की पढ़ाई छात्रों के लिए ज्यादा आकर्षक होगी। रचनात्मक लेखन को पाठ्यक्रम में भी शामिल करना चाहिए।

हिंदी का सम्बन्ध अन्य अनुशासनों से भी होना चाहिए। अगर मध्यकालीन हिंदी साहित्य पढ़ाया जा रहा है तो विद्यार्थियों को अनिवार्यतः औपचारिक रूप से क्रेडिट कोर्स के रूप में मध्यकालीन इतिहास को भी पढ़ाया जाना चाहिए। इसी तरह मनोविज्ञान का अध्ययन भी मनोवैज्ञानिक साहित्य को समझने के लिए जरूरी हो जाता है। फिर कहा जाता है कि साहित्य को पढ़कर हम उस समय के समाज को जान सकते हैं इसलिए समाजविज्ञान का अध्ययन भी साहित्य के छात्रों के लिए अनिवार्य बनाना चाहिए। मुझे लगता है कि पाठ्यक्रम हर तीन-चार साल पर बदल देना चाहिए ताकि ज्यादा से रचनाओं और लेखकों को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जा सके। भक्ति साहित्य में दशकों से कबीर, सूर, तुलसी, जायसी और मीरा को ही पढ़ाया जा रहा है, लेकिन और कवि कहाँ गए। रैदास, नानक आदि बहुत सारे कवि हैं रामकाव्य-कृष्णकाव्य सभी धाराओं में कई कवि हैं जिनको पढ़ाए जाने की जरूरत है। लेकिन इसका कतई मतलब यह नहीं है कि कबीर आदि को हटा दिया जाए। कबीर को थोड़ा कम करके औरों को भी जगह मिलना चाहिए।

3. मुझे लगता है कि भविष्य में हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम के स्वरूप में सामाजिक विज्ञानों खासकर इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान आदि विषयों के अध्ययन को शामिल किया जाएगा।

ध्रुव जिंघालिया हिंदी प्रकोष्ठ में श्री दीपक कुमार के पुत्र हैं और केन्द्रीय विद्यालय में कक्षा-2 के छात्र हैं

अंशु बोला

आज रात को चंदा मामा।
जब आसमान पर आएगा।
अंशु अपनी दादी माँ से।
कोई कहानी कहलाएगा।।
दादू भी छत पर आ जाते हैं।
कुछ टिमटिमाते तारे वो दिखाते हैं।
दूर गगन में लालिमा छाई है।
अंशु को सुबह की सुस्ती आई है।।

आओ स्वच्छ बनें

मिट्टी में हम खेले खूब।
साबुन मल-मल कर फिर नहाएँ खूब।।
हाथ धोना रखें याद।
भोजन का तभी चखें स्वाद।।
खुले में शौच अब कल की बात।
गंदगी और बीमारी की आज क्या औकात।।
कचरा पेटी, झाड़ू, साबुन यह सब जरूरी है।
गंदगी से लड़ने की अब तैयारी पूरी है।।



पंकज सिंह* की कविता



वह इच्छा है मगर इच्छा से कुछ और अलग

इच्छा है मगर इच्छा से ज्यादा
और आपत्तिजनक मगर खून में फैलती
रोशनी के धागों-सी आत्मा में जड़ें फेंकती

वह इच्छा है
अलुमुनियम के फूटे कटोरों का कोई सपना ज्यों
उजले भात का

वह इच्छा है जिसे लिख रहे हैं
खेत-मज़दूर, छापामार और कवि एक साथ

वह इच्छा है हमारी
जो सुबह के राग में बज रही है

*हिंदी के चर्चित कवि और विचारक। स्व. पंकज सिंह जेएनयू के पूर्व छात्र रह चुके हैं।

सम्राज्ञी आ रही हैं

नागरिकों उत्सव मनाओं कि सम्राज्ञी के दर्शन तुम्हें करने हैं
भीतभाव से प्रणाम संभालते हुए अपने दुखों के कीचड़ में
रूँधें गले से ही स्वागत गीत गाते हुए
उत्सव मनाओ

सम्राज्ञी का रथ तुम्हारी अंतड़ियों से गुजरेगा
रथ गुजरेगा तुम्हारी आत्मा की कराह और शोक से
तुम्हारे स्वप्नों की हरियालियाँ रौंदता हुआ
रथ गुजरेगा रंगीन झरनों और पताकाओं की उब डूब में

संभलकर, अपनी मुर्दनी और आक्रामक मुद्रा को
मीठी रहसीली स्वागत भंगिमाओं में छिपाते हुए
स्वतंत्रता की इस दोगली बहार में
झुक जाओ भद्र भाइयों

सम्राज्ञी आ रही हैं

सम्राज्ञी तुम्हारी सामूहिक नींद पर झुकी हुई
आवाजों के पुल से धीरे-धीरे नीचे की ओर उतरती हुई
सम्राज्ञी
तुम्हारी आंखों को
कृतज्ञता और आभार के जल से भरती हुई
आने वाली हैं

सड़कों के किनारे बच्चे खड़े होने चाहिएँ, अधनगें मुस्कुराते
बचपन के उदासीन खंडहरों में पड़े फटे हुए चित्रों से
हाथों में फूल लिए बच्चे...
स्त्रियाँ तुम्हारी खिड़कियों से झाँकती, हाथ हिलाती
खडी होनी चाहिएँ ऋतुओं के कामनाहीन सूनेपन में

खुशियों की आहटें अगोरती स्त्रियाँ ...
पेड़ होने चाहिएँ तुम्हारी टूट इच्छाओं की तरह सन्नद्ध
विविधवर्णी
और हर तरफ सदियों को मुर्दनी भरी ऊसर आँखें
बिछी होनी चाहिए आती-जाती हवाओं के रेशे-रेशे में

कि चौकन्ने सभासद हर कहीं मौजूद होंगे
कि चौकन्ने सभासद वायदों और सपनों की गुनगुनाहट में
हर कहीं मौजूद होंगे तुम्हारे तेवर खँगालते
भविष्य और उत्सव के फूलों के आसपास

सम्राज्ञी आ रही हैं

इस औंधे नगर में हुई हत्याओं की सूचनाएँ सभासद देंगे
उन्हें
कि खतरनाक बन्दी मारे गए कारागार लाँघते हुए
कि कुछ असभ्य लोग मारे गए कुलीन नागरिक आवासों के
आसपास
अपने अँधेरों से
संतुष्ट और शालीन अमात्यों का रिश्ता टूँढते हुए

और लज्जित भाव से तुब सब सिर हिलाओगे
कि तुमने व्यर्थ का साहस खर्च किया, व्यर्थ का मूर्खतापूर्ण विरोध
कि राजकीय हिंसा की सारी घटनाएँ जन्म-जन्मान्तरों के नियम हैं
दुस्साहसिक प्रजाओं के लिए...

घोड़ों, मनुष्यों और शस्त्र स्त्रों की भीषण चकाचौंध में
तुम्हारी टांगों की लगातार थरथराहट सम्राज्ञी को दिख न जाए
ध्यान रखना, स्नायुओं की सिहरन शान्त रखना
सम्राज्ञी आने वाली है तुम्हारे नगर को आगामी वर्षों के लिए
गर्म और सुखद स्मृतियों और आश्वासनों से भरने

इसके पहले कि रथ के घोड़ों की पहली टाप सुनाई दे और
धूल के पहले बादल सीमान्त पर उठते हुए नगर की ओर आएँ
तुम एक पहचानहीन हलचल हो जाओ
जिसका कोई भी उपयोग सम्राज्ञी के सैनिक और सभासद करें
तैरते हैं जहरीले बादल तुम्हारी आकांक्षाओं के आकाश में
सभागारों में उमड़ते आते हैं झूठ के हजारों रंग

सम्राज्ञी की प्रजावत्सलता से गद्गद
अपने जंग लगे चेहरे मांज आओ प्रिय नगरवासियों
सम्राज्ञी आ रही हैं

सम्राज्ञी आ रही हैं



रुबाइयाते-दारा शुकोह

अख़लाक़ 'आहन' फ़ारसी विभाग जेएनयू में प्रोफ़ेसर हैं तथा जाने-माने कवि और लेखक हैं।

आज हमारे सामने जो सब से बड़ा मसला खड़ा दिखाई दे रहा है वो है सदियों से बह रही ज्ञान, संस्कृति और तहज़ीब की साझी विरासत की धारा का छोटी-छोटी अस्मिताओं से जुड़ना और इन शनाख़्तों में बँट जाना। ये हमारे इतिहास की सबसे बड़ी विडंबना है, त्रासदी है, और इसके भयानक परिणाम का हम सामना कर रहे हैं, और इससे भी अधिक भयावह सूरतेहाल का शायद सामना है। अगर हम अभी भी न संभले तो इतिहास हमें किसी लायक न छोड़ेगा।

इस पूरी परंपरा को समझने के लिए उपनिवेशिक काल से पहले की तहज़ीबी रिवायात और सांस्कृतिक रवैय्यों को गौर से देखना और परखना होगा। इस विरासत की समझ के लिए उस दौर का एक चमकता सितारा दारा शुकोह है, इसीलिए दारा की शख्सियत, उसकी नीतियों, उसके दर्शन, उसके बौद्धिक और साहित्यिक योगदान को समझने की भी ज़रूरत है। बहुत कम लोग उसे एक हारे हुए शहज़ादे से अधिक जानते हैं। लेकिन वो एक विद्वान, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत आदि के जानकार के साथ-साथ एक सूफ़ी और शायर भी था। मुग़ल बादशाहों, शहज़ादों और शहज़ादियों में साहित्य-प्रेम बहुत आम था। इनमें से कई ने बड़े लेखक, साहित्यकार और कवि के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। मध्य एशिया खासतौर से उज़्बेकिस्तान में बाबर की पहचान मूलतः एक महान लेखक के रूप में ही है। उसे कम ही लोग एक शासक के रूप में जानते हैं। उसी तरह हुमायूँ, उसका भाई मिर्ज़ा कामरान के साथ दारा-शुकोह और शहज़ादी ज़ैबुन्निसा ऐसे हुए हैं, जिन्होंने दीवान की रचना की। दीवान, एक तरह से शायरी का सम्पूर्ण संकलन है। ज़ैबुन्निसा को ये गर्व भी प्राप्त है कि वो पूरे फ़ारसी साहित्य के इतिहास में पहली ऐसी कवित्री हुई, जिनका दीवान है। इनके इलावा लगभग सभी मुग़ल बादशाहों और शहज़ादों ने कविता की शक्ति में कुछ न कुछ योगदान दिया है।

दारा-शुकोह के दीवान में मुख्य रूप से ग़ज़लें और रुबाइयाँ हैं। ग़ज़ल की विधा के बारे में हम जानते हैं कि उसमें हरेक शेर का अलग अर्थ होता है और आमतौर से ग़ज़ल किसी एक विषय में बंध कर नहीं रहती, जबकि रुबाई किसी एक विषय पर कवि की राय, दर्शन, अथवा फ़लसफ़े के इज़हार का ज़रिया होती है। इसीलिए जिन दार्शनिकों ने शायरी की तरफ ध्यान दिया, या अपनी बात कहनी चाही, उन्होंने रुबाई की विधा को अपनाया। उनमें ख़य्याम के अलावा महान दार्शनिक इब्ने सीना, महान सूफ़ी जैसे ख़्वाजा अब्दुल्ला अंसारी, बाबा कोही, सरमद आदि का नाम

आता है। लेकिन मुझे दारा की रुबाइयों को पढ़ते हुए ये देखकर बड़ी हैरत और आश्चर्य हुआ क्योंकि मुझे अब तक किसी दूसरे शायर के यहाँ ऐसी विषय-एकरूपता नहीं दिखी जैसी दारा की रुबाइयों में देखने को मिलती हैं। लगभग दो सौ के करीब रुबाइयाँ हैं, उनमें कुछ ही ऐसी मिलती हैं जिन में वस्दतुल-वजूद अथवा अद्वैत के विषय में चर्चा या चिंतन न हो, या उसके किसी पहलू पर बहस न हो। ऐसा लगता है, मानो वो पूरी तरह से उसमें डूबा हुआ है, और शायद यही सही भी है कि अगर ऐसा न होता तो एक ही विषय को अलग तरह से हर रुबाई में पेश करना मुमकिन न होता। हमारे सामने उनके समकालीन सूफ़ी कवि सरमद की मिसाल है, जो उसी परंपरा के हैं, और उनकी मग्नता और भक्ति से हम सब वाकिफ़ हैं, यहाँ तक कि इस राह में जान दे दी, लेकिन उनकी रुबाइयों में सूफ़ी परंपरा के विभिन्न पहलुओं पर चिंतन-मनन मिलता है, जबकि दारा पूर्णरूप से वस्दतुल-वजूदी नज़रिए की व्याख्या में लीन नज़र आते हैं। इस लिहाज से, दारा शायद न केवल फ़ारसी परंपरा में बल्कि पूरे साहित्यिक परम्परा में अनोखा और इकलौता कवि नज़र आता है।

दारा का पूरा नाम मुहम्मद दारा शुकोह था और वह पांचवे मुग़ल सम्राट शाहजहां का बड़ा बेटा था। उसका जन्म 20 मार्च 1615 में मौजूदा राजस्थान के शहर अजमेर की नजदीक सागरताल में हुआ था। उस वक़्त शाहजहां खुद राजकुमार था और ख़ुरम के नाम से जाना जाता था। दारा को उसका दादा सम्राट जहांगीर भी बेहद प्रिय रखता था। उसे युवाकाल से ही सूफ़ियों, संतों और आध्यात्मिक परंपरा में गहरी रूचि हो गयी। उसे राजकुमार और भावी उत्तराधिकारी की हैसियत से कई प्रशासनिक और सैन्य ज़िम्मेदारियाँ भी दी गयीं, लेकिन उसकी असल दिलचस्पी का महवर कुछ और ही रहा। उत्तराधिकार की जंग भी वो हार गया, लेकिन उसने ऐसे कारनामे अंजाम दिए जो हमेशा उसे जिंदा रखेंगे। इन कारनामों में उसकी रचित किताबें और सिरें-अकबर के नाम से उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद का महान कार्य है, जिसने भारतीय दर्शन परंपरा को पूरे विश्व में परिचय कराया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि दारा ऐसा पहला व्यक्ति नहीं था जो ऐसा कर रहा था, बल्कि यही भारतीय परंपरा सदियों से रही थी, दारा ने उसमें अहम् योगदान दिया। हमारी परंपरा में ज्ञान को अस्मिता का हिस्सा नहीं माना गया, इसीलिए हम पूर्व-उपनिवेश काल में मुल्लाओं को संस्कृत और दूसरी परम्पराओं के विद्वान की रूप में पाते हैं और पंडितों को अरबी और इस्लामी विद्या के ज्ञाता के रूप

में खुसरो, अब्दुल-कुदूस गंगोही, गुरु नानक, महेश ठाकुर, मुहिबुल्लाह इलाहाबादी, चंद्रभान ब्रह्मण, दारा शुकोह, बाबा लाल, मज़हर जाने-जानां आदि इस परंपरा के ज्वलंत उदहारण हैं।

रुबाइयाते-दारा शुकोह

(1) किसी ज़रा को हमने खुरशीद (सूर्य) से अलग नहीं देखा, वैसे ही जैसे समुंद्र का हर क़तरा बजाते-खुदरिया (का ही हिस्सा) है। ज़ात-ए-हक़ (परम-सत्य) को किसी भी नाम से पुकारा जाए, क्योंकि जितने भी नाम (अस्तित्व) हैं वो सब खुदा ही के नाम (से मुस्तआर अथवा अर्जित् व्युत्पन्न) हैं।

(2) बशर (प्राणियों) की तारीफ में मेरी जबान न खुली, क्योंकि मेरा वजूद ज़ात-ए-हक़ के सिवा किसी और की तलाश में न रहा।

(3) तुम कतरे को समुद्र से जुदा या अलग देखते हो, यद्यपि ऐसा नहीं है। हर वो क़तरा जिसने खुद को समुंद्र में समो लिया, उसे फिर समुंद्र से अलग नहीं किया जा सकता।

(4) अगर तुम नेक-मनिश या चित्त के हो तो सब कोने को नेक समझोगे, और अगर खुद ही बुरे हो तो दूसरों को भी वैसा ही देखोगे। तुम्हारी सूरत के इलावा और कोई सूरत ज़ाहिर न होगी, (हकीकत) तुम अपने आईना में ही सब को देखते हो।

(5) एक आरिफ़ (प्रबुद्ध संत) के दिल पर किसी भी वक्त किसी खतरा (ख़ौफ़) का गुज़र नहीं होता, और अगर कभी (इत्तेफ़ाक़न) ऐसा हो भी जाए तो फ़ौरन मिट जाता है। यद्यपि घास-पात और कचरा हर वक्त समुद्र में बहते रहते हैं, लेकिन किसी भी वक्त सतह पर ठहर नहीं पाते।

(6) घड़े के अंदर और बाहर से हवा भरा होता है, और घड़े के अंदर आवाज़ गुँजती रहती है। (लेकिन) जब वो टूट कर आवाज़ के साथ बिखर जाता है, तो ऐसा ही होता है जैसे पानी का बुलबुला टूट कर समुंद्र हो गया (या समुंद्र का हिस्सा हो गया)।

(7) ऐ भाई! अपनी आत्मा (रूह) का हमेशा ख्याल रखो, (क्योंकि) ये इस खाना-ए-मारेफ़त (यानी बदन) में मेहमान का निशान है। और इश्क़ की राह में जो कुछ भी सामने आए या जिन हालात का भी सामना हो, उसे सहर्ष कबूल करो।

(8) परमेश्वर तो समुद्र की तरह है, और समस्त आत्माएं और जीव पानी की लकीरों की तरह हैं। ये समुद्र ही है जो जोश में आता रहता है, और वो कभी क़तरा, कभी मौज और कभी बुलबुला की शक़लें बनाता रहता है।

(9) मैं ये बात शोध और जाँच-पड़ताल की बुनियाद पर कह रहा हूँ, अगर तुम (समझदार) इन्सान हो तो उसे कबूल करो और रुगिरदानी ना करो अथवा पीछे न हटो। (ये जान लो) गुण कभी अस्तित्व का पर्दा नहीं होते, ऐसे ही जैसे समुंद्र की सतह की लकीरें कभी समुंद्र (की हकीकत) को छिपा नहीं सकते।

(10) ऐ वो शख्स जो ज़ाहिर अथवा तपस्वी की तरह पुण्य-कार्य पर खुशी का प्रदर्शन करते हो, खुद को खुदा के नज़दीक लाओ और मौजूदा हालत से दूर करो। (तुम्हें चाहिए कि) वियोग में तड़पो, यद्यपि सोने की जंजीर में जकड़े हुए हो, (अब फैसला तुम्हारे हाथ में है कि) तुम पुण्य (और इतमीनान) की बंदिश में रहना चाहते हो या तड़प की क़ैद में।

(11) वो अस्तित्व जिस के अमरत्व के रंग से हजारों लोक परिपूर्ण है, हमारे और तुम्हारे रंग की तो अपनी कोई शनाख़ूत (हकीकत) ही नहीं। बाकी जितनी भी शनाख़ूत हैं, उन्हें महज हवस, लोभ और लोलुपता समझना चाहिए। परम-अस्तित्व तो तमाम रंगों (शनाख़ूतों) से परे है, उसी की पहचान में गुम हो जाना चाहिए।

(12) रहस्यवादी संत उसके ऐक्य अथवा वहदत के विवरण में शराबे-(मानी, अर्थ, आशय) ताज़ा लाता है, बावजूद इसके कि असल हकीकत से खुद गाफ़िल है और अज्ञान-लोक में पड़ा हुआ है। (जबकि) वो खुद जानता है कि इस बात को हर ऐरा-ग़ैरा नहीं समझ सकता, इस नुक्ते की अनुभूति (इफ़ान) दुनिया में विरले है।

(13) आशिक़ और माशूक़ के दरमयान बहुत सारी बातें होती हैं, सैंकड़ों नाज़, वादों और गुफ़्तगू के मरहले होते हैं। साहचर्य की बेशुमार नज़ाकतें जो उनके बीच होती हैं, कोई और इस से अवगत नहीं होता क्यों कि वो वो राज़ की बातें होती हैं।

(14) वो जिसकी ख़ातिर आसमान गर्दिश में है, वो जिसकी विशेषताओं के विवरण करने में फ़रिश्ते अथवा देवता भी असमर्थ हैं, वो जिसके लिए ज़मीन नत्मस्तक हो, वह केवल इन्सान को ही मयस्सर है।

(15) ऐ दोस्त! दुनिया से उदासीन हो जाना, सत्ता और शौर्य से दूर हो जाना शौभाग्य की निशानी है। मैं इसके लिए जितनी भी कोशिश करता हूँ, लेकिन मेरा राज़फ़ाश हो जाता है, (क्योंकि) ईश्वर का रहस्य भी इस अस्तित्व के साथ है।

(16) जो कोई भी सत्ता-मोह से गुज़र गया, उसी ने (गुमराही के) गड्ढे को पार कर लिया, और वो बिजली की तरह अपने होने के वहम से शीघ्र निकल गया। तपस्वी ने सिर्फ़ इस बुनियाद पर मुझे गुमराह किया, (क्योंकि) आरिफ़ मुकामे-हकीकत (परम-सत्य) तक अपने रास्ते से पहुंच गया।

(17) चूँकि मेरी आँखों की रौशनी चली जा रही है। इस कमी की वृद्धि कहाँ और किसके यहां चली जा रही है? तुम्हारे नज़दीक उसके कम और ज्यादा होने पर यकीन की निर्भरता है, मेरे लिए तो मेरी आँखें इस महीने चौदवीं का चांद हैं।

(18) ऐ तपस्वी! अधिक तपस्या का मक़सद क्या है, अगर वो अनुपस्थित है तो फिर उपस्थित कौन है? पूरे ध्यान और आसक्ति के साथ अगर एक-बार भी परम-सत्य का नाम ले लिया तो वही काफी है।

कविता :

शगुन सिन्हा, (एससीएसएस), जेएनयू में एम.फिल. में शोध छात्रा हैं। प्रस्तुत कविता जेएनयू में विश्व हिंदी दिवस 2017 के अवसर पर आयोजित प्रतियोगिता में पुरस्कृत की गई।



वो लड़की घर से निकली थी

उम्मीद की, उल्लास की आभा लिए हुए,
मन में उत्साह और आशा लिए हुए,
करने जीवन के नए आरम्भ का सहर्ष स्वागतम्,
वो लड़की घर से निकली थी।

प्रसन्नता उसके मन की सीमा से भी परे थी
जीवन के नए रंगों से खेलने को उत्सुक थी
स्वच्छन्दता सर्वदा जिसके जीवन का पर्याय रही,
विश्वास, स्वतन्त्रता से भरी
वो लड़की घर से निकली थी।

फिर किया किसी ने एक घृणित-सा प्रयास
एक हीन से हीनतम लिए हुए था मन से आस।
वीरांगना को करना चाहा था तब उसने निरस्त
ओछी हरकतों पर करने लगा था वो दम्भ।

पर अब बस और नहीं।
अब और नहीं, अब और नहीं।
वह लड़की अब भय से छुपने वाली है नहीं
उन घृणित बेशर्मा से लड़ना ही है सर्व सही।

तितिक्षा असह्य अपराध की
भंग करेगी अपना बांध
अपने हर्ष की रक्षा
का होगा अब तय आरम्भ,
विक्षिप्त मन की अवस्था
का करने अब पूर्ण-विलोम,
बढ़ चले हैं, बन चले हैं,
दृढ़संकल्प उसके कदम।

धधकती धूप में धरा पे छाँव की तलाश की
तपती आंच भी मिली, उदासियों के घेरे भी।
फिर भी अचल है मनस्थ ज्वाला दृढ़ आस की
बढ़ चले उस आस प्रति सशक्त कदम उसके भी।

बवंडर में मानो जैसे अचलत्व को परोक्ष लिया
डगमगाना चाहा साहस को,
विश्वास को भी क्षीण किया।
अब शौर्य की यात्रा का आरम्भ
जगदम्बे की पुकार है
नारी शक्ति की परिपूर्णता की
एक नयी मिसाल है।

परिधान पर उसके जो तूने हस्तक्षेप किया,
प्रश्नचिह्न लगा जो चरित्र पर आक्षेप किया।
उस प्रत्येक आक्षेप पर वार का ऐलान है
उसकी अंतर्ध्वनि अब कर रही आह्वान है।

उसकी यह आवाज सुन लो तुम आज
“प्रियतम-धरोहर रूप मेरा साहस,
अपरिहार्य आवश्यक मेरा साहस।
अचलत्व इसका अब नूतन है स्थायी है
इस उन्नति पर मेरा गौरव छू रहा ऊँचाई है।

न युक्त होगा अब इसका
कथमपि कोई भी शम
दृढ़ करने इसको अब
बढ़ चले उसके कदम, दृढ़संकल्प
बन चले उसके कदम।

स्वच्छन्दता उसकी जीवन का
सदा ही रहेगी पर्याय
निम्न-प्रदर्शन वालों का
है अब यही उपाय।

इस पर्याय संग ही वो लड़की घर से निकली थी
इसी पर्याय संग वो लड़की फिर से निकलेगी
सुबह के नौ या रात के दो, होकर बेझिझक
वो लड़की फिर से निकलेगी, फिर से निकलेगी।

धर्म एक बहुत ही व्यापक विचार है जो समाज को बनाए रखने के सभी पहलुओं से संबंधित है।

— पं. दीनदयाल उपाध्याय

अपनी खूटी पर टिका एक सुनने वाला पत्रकार

सोपान जोशी



सोपान जोशी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अनुभाग अधिकारी हैं। इन्होंने अपना एक लम्बा समय इस विश्वविद्यालय को दिया है। प्रस्तुत है उनके संस्मरण के कुछ अंश।

लगभग 46 साल के उनके कामकाजी जीवन में अनुपम मिश्र का बहुत कहीं आना-जाना नहीं हुआ। इस पूरी अवधि में वे नई दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान में ही अपना चिमटा गाड़े रहे। इस दौरान उनके बहुत से साथी-सहयोगी आए, कुछ समय साथ रहे, और फिर कहीं और चले गए। वे जहां थे, वहीं बने रहे। उन्हें कहीं जाने की हड़बड़ी नहीं थी, कहीं भी पहुंचने की जल्दबाजी नहीं थी। महत्वाकांक्षा उन्हें कहीं भी नहीं ले जा सकी। जैसा भी संसार उन्हें मिला था, उसे निष्ठा से निभाना और जतन से बरतना अनुपम मिश्र के स्वभाव का बुनियादी हिस्सा था। उलझी, बरगलाई, उलटती-पलटती दुनिया के एकदम बीच, वे ठीक अपनी खूटी पर शांत भाव से टिके रहने वाले व्यक्ति थे।

अपनी साधारणता में स्थित रहने का ऐसा ठहराव असाधारण होता है। बहुत से लोग उनसे मिलने केवल इसलिए आते थे कि अपने जीवन की आपाधापी में थोड़ा मन का आराम पा सकें, कड़ी धूप से निकल कर शीतल छाया में कुछ पल बिता सकें। अनुपम मिश्र सभी से प्यार से मिलते थे, संबंधों का इतिहास हमेशा ध्यान रखते थे, किसी भी तरह के प्यार और सम्मान का आभार सदा ही अपने मन में रखते थे। वे अपने सभी प्रियजनों के मन के संपादक भी थे। अनुपम मिश्र शब्दों और लेखों का संपादन भी वैसे ही करते थे जैसे अपने मित्रों के विचारों का, उनके निर्णयों का, उनके कथनों का। धीरज से, उदारता से, प्यार से, सत्य से।

उनके दफ्तर में उनसे मिलने कुछेक मानसिक रोगी भी लगातार आते थे। अनुपमजी उनसे उसी घनिष्ठता से मिलते जैसी वे किसी निकट के मित्र के लिए रखते थे। ऐसे लोग जिन्हें उनके अपने परिजनों ने त्याग दिया था, अनुपमजी के पास वह अपनापन और स्नेह पाते जो उन्हें कहीं और नहीं मिलता था। इनमें ऐसे भी थे जो किसी भी दूसरे व्यक्ति पर भरोसा नहीं करते थे, अपनी बात केवल अनुपम मिश्र से ही करते थे। उनकी सरलता ऐसी थी कि अपना मानसिक संतुलन खो बैठे व्यक्ति को भी दिखती थी।

किसी भी तरह की बातचीत को बीच में छोड़ कर, वे अपने इन मित्रों से मिलने अपने कमरे के बाहर चले जाते थे। दूर से देखो तो प्रतीत होता था कि कोई गहरी बातचीत चल रही है। फिर जितनी बन सके उतनी मदद वे उनकी करते, और वापस अपनी कुर्सी पर आ कर बैठ जाते। कहते, “कुछ सामाजिक टैक्स हम सभी को चुकाने होते हैं।” सरकार को टैक्स भरने वाले तो आपको

मिल जाएंगे, अपने सामाजिक काम को टैक्स की संज्ञा देने वाले शायद ही मिलें। वे यह भी लगातार जताते थे कि मानसिक संतुलन का बिगड़ना एक लॉटरी है, कभी भी, किसी की भी खुल सकती है। फिर विश्व साहित्य से मानसिक रोगियों पर लिखे अनूठे उदाहरण भी बताते, पर किसी साहित्यिक हस्ती के पढ़े-लिखे ठाठ के साथ नहीं। गली-मुहल्ले में चाय-पकौड़ी खाते हुए किस्सा सुनाने वाले किसी मित्र के भाव से। रूसी लेखक अंतोन चेखोव की प्रसिद्ध कहानी ‘वार्ड नंबर 6’ उन्हें बहुत प्रिय थी, प्रेमचंद की कई कहानियां भी। अपनी अनेक यात्राओं में साधारण ग्रामीणों के बताए किस्से भी। संस्कृत के सूक्त भी और पुरानी हॉलीवुड फिल्मों के संदर्भ भी।

उनसे ज्यादा ज्ञानी लोग आपको कई मिल जाएंगे। पर ऐसा तो कोई विरला ही मिलेगा जिसमें अज्ञान की समझ इतनी गहरी हो। उनकी मिट्टी में ज्ञान और अज्ञान का एक अनुपम बोध था। उन्हें यह सहज ही पता था कि हर व्यक्ति जो जानता है, उसकी सीमा है। ज्ञान और जानकारी एक तरह की सत्ता पैदा करते हैं, एक तरह का ‘क्लब’ बना देते हैं, जिसमें प्रवेश सीमित होता है। लेकिन ज्ञानी और जानकार लोग ही अच्छा काम करें ऐसा वे नहीं मानते थे। “बहुत मामूली लोग भी ऊंचा काम कर जाते हैं,” वे दुहराते थे। अनुपम मिश्र ऐसे किसी भी क्लब, केंद्र, पार्टी या विचारधारा के सदस्य नहीं थे। अगर उन्हें ऐसी विशेष जगहों पर किसी कारणवश जाना होता था, तो वे वहां यूं ही हो आते थे। उस मुकाम या उससे आने वाली सत्ता के प्रति उनके हाव-भाव में कभी कोई राग दिखता नहीं था।

ज्ञान के अहंकार से उन्हें डर लगता था, ऐसी सूझ-बूझ से भी जिसका अदम्य आत्मविश्वास दूसरे लोगों की समझ के लिए कोई स्थान न रखे। अनुपम मिश्र की वाणी में, उनके मन में, और उनकी बातचीत में लगातार एक तरह का संशय रहता था। जो अपने को पता है उससे आगे क्या है? वे हमेशा अपने मन में गुंजाइश रखते थे उसके लिए जो अपने से बड़ा हो। अगर कुछ ऐसा सामने आ जाए जो अपने जीवन, अपनी बुद्धि से परे है, तो उसे विनम्रता से ही देखते। आपको शायद ही ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति मिले जिसके मानस में अज्ञान के प्रति इतनी प्रतिबद्धता थी। विनोबा भावे से लेकर स्टुअर्ट फायरस्टीन जैसे नए वैज्ञानिकों तक का साहित्य उन्होंने इकट्ठा किया था, जो मनुष्य के ज्ञान की

सीमा की बात करता है। यही नहीं, अपने अज्ञान में संतुष्ट रह कर भी अपना आचरण कैसे साफ-सुथरा, उपयोगी, और सुरुचिपूर्ण रखना, यह उनका खास ध्येय था। अनुपम मिश्र बहुत ज्यादा पढ़ते नहीं थे, बहुत ज्यादा लिखते भी नहीं थे।

ऐसे अद्भुत अज्ञान के बिना शायद उन्हें उस विवेक के दर्शन नहीं होते जो हमारे साधारण जनमानस में रचा-बसा है। पत्रकार बहुत से होते हैं, ऐसे भी जिनकी पत्रकारिता में सामाजिकता होती है। लेकिन ऐसी अनुपम पत्रकारिता आपको और कहीं नहीं मिलेगी जिसमें साधारण लोगों में और उनके व्यवहारिक ज्ञान में इतनी रुचि हो। वह भी सालों-साल यात्राएं करके, लोगों से उनके अपने परिवेश में मिल कर, मिट्टी-पानी के उनके सामाजिक संस्कार को आत्मसात करने के बाद। किसी भी पत्रकार के लिए अनुपम मिश्र को यात्रा के दौरान काम करते देखना एक यादगार अनुभव रहता था। उनमें खोजी पत्रकार, या सत्ता प्रतिष्ठान को जानने वाले और उसकी बखिया उधेड़ने वाले रिपोर्टर की आक्रामकता का एक अंश भी नहीं था। वे बहुत सवाल नहीं करते थे, जबकि सवाल करना किसी भी पत्रकार का प्रधान औजार होता है। वे लोगों से ऐसे मिलते-जुलते थे जैसे अपने परिजनों से मिल रहे हों। उनकी सौम्यता सहज ही लोगों को आश्वस्त करती थी। उनका पहनावा, भाषा, आंखों का भाव ज्यादातर लोगों को निश्चिन्त कर देता था। उनके काम में पत्रकारिता का एक और गुण था। ध्यान से सुनना। आज पत्रकारिता बहुत ज्यादा बोलने वालों का क्षेत्र हो गया है। अनुपम मिश्र सुनने वाले पत्रकार थे।

ऐसे तरीकों से किए काम का परिणाम गजब का था। अनुपम मिश्र को लोगों से वह सब पता चलता था जो किसी तेज-तर्रार खोजी रिपोर्टर को भी नहीं मिलता। उनसे अनजाने लोग भी परिजन की तरह बात करते थे, उन्हें अपने घर के भीतर ले जाते थे, अपने मन के भीतर भी। ऐसे ही 1970 के दशक में वे उत्तराखंड के चमोली जिले में कुछ गांव वालों का विरोध समझने पहुंच गए। सरकार ने जंगल काटने का ठेका किसी क्रिकेट बैट बनाने वाली कंपनी को दे दिया था, लेकिन ग्रामीण अपने जंगल की रक्षा कर रहे थे। जिसे बाद में 'चिपको आंदोलन' के नाम से जाना गया उस पर लिखने वाले शुरुआती लोगों में अनुपम मिश्र थे। चंबल घाटी में 1972-74 में डाकुओं के समर्पण के लिए जो दल जयप्रकाश नारायण ने बनाया था उसमें प्रभाष जोशी और श्रवण गर्ग के साथ अनुपम मिश्र भी थे।

इसी दौरान नर्मदा घाटी में बांधों की वजह से बिगड़ती खेती ने जब 'मिट्टी बचाओ आंदोलन' का रूप लिया, तो उसकी आवाज दुनिया तक पहुंचाने का काम अनुपम मिश्र ने ही किया। बीकानेर में गौचर की रक्षा हो, कुएं-तालाब के बचाव की बात हो,

सार्वजनिक यातायात बढ़ाने की बात हो... हमारे पर्यावरण की बातचीत के हर सामाजिक स्वरूप में अनुपम मिश्र की अंगुलियों की छाप मिलेगी। इन सब विषयों और लोगों के पास वे दूसरे लोगों को भी ले कर गए। उन्हें कहीं ऐसा नहीं लगा कि उनकी लिखाई या उनकी रिपोर्ट उन्हीं की विशिष्ट मानी जाए।

अपने काम पर उन्होंने कभी सर्वाधिकार नहीं रखा। लोग किताब छपने के बाद लोकार्पित करते हैं, अनुपम मिश्र की किताबें लिखाई के पहले से ही लोकार्पित रहती थीं। कोई और उनके काम को अपनाए इससे अच्छा क्या हो सकता है, भला! "अगर अपनी ही बपौती बना लो और दुनिया सुधारने का ठेका अपना ही मान लो, तो सामाजिक काम दूर तक नहीं जा सकता। उसके लिए तो अपना और अपने समाज का संबंध ठीक होना जरूरी है। अपनी आंख, अपना भाव ठीक होना जरूरी है।" उनकी लिखी किताबों से दूसरे प्रकाशकों ने भी धन कमाया है, और इसे अनुपम मिश्र अपनी ही सफलता मानते थे। जैसे अकादमिक ज्ञान की दुनिया से उन्होंने दूरी बना कर रखी जैसे ही पेशेवर पत्रकारिता से भी अनुपम मिश्र जरा दूर ही रहे। (हालांकि ऐसे संपादक और अखबार मालिक भी थे जो उन्हें बुला कर मंहंगी नौकरी देने के लिए तैयार ही नहीं थे, आग्रह भी करते थे)। इसका प्रभाव उनकी भाषा में दिखता है, जिसके बारे में न जाने कितने लोग कितनी प्रशंसा में कितने ही लेख लिख चुके हैं। उनके आखिरी 10-15 साल में उनकी जैसी प्रसिद्धि हुई उसका वे आभार मानते थे, पर उसे सहज ही लेते थे। जब कोई उनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए भी कठिन और टेढ़ी भाषा का उपयोग करता, तो वे निजी रूप से चुटकी भी लेते थे। "जब पांव पर चलना इतना आसान है, तो लोग लिखते समय हाथ पर चलने की कोशिश क्यों करते हैं?" जो कोई उनके संपादक के रूप को करीब से जानता था उसे पता था कि वे एक-एक शब्द पर कितने नृशंस हो सकते थे। उनकी व्यवहार की सरलता के पीछे जटिल-से-जटिल विचार को समझ लेने की गहराई भी थी। "अच्छी, साफ-सुथरी लिखाई, अच्छे, साफ-सुथरे विचार से ही आती है," वे बार-बार याद दिलाते थे। क्योंकि हमारे विचार भाषा में उभरते हैं, इसलिए विचार को ठीक करने का, ठीक रखने का माध्यम भी भाषा ही है। कैसा विचार? ऐसा, जो सत्यनिष्ठ हो। किसी एक विचारधारा या किसी एक धर्म या किसी एक राजनीतिक दल के दरवाजे पर बंधा न हो। जिसकी निर्मलता सामने वाले के मन में झलके। जिसके विरोधियों को भी उसकी शीतलता का आभास हो। जिसमें पूर्वाग्रह न हों। बस सत्य के प्रति एक अनुपम आग्रह भर हो। सोपान जोशी लेख 'यथावत' पत्रिका के 1-15 जनवरी 2017 के अंक में छपा है।

सफर जिंदगी का

पवन कुमार



पवन कुमार, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अनुभाग अधिकारी हैं। इन्होंने अपना एक लम्बा समय इस विश्वविद्यालय को दिया है। प्रस्तुत हैं उनके संस्मरण के कुछ अंश।

वर्ष 1979 की बात है जब मई के महीने में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की ओर से मुझे क्लर्क (जूनियर असिस्टेंट कम टाईपिस्ट) की नियुक्ति का पत्र प्राप्त हुआ। नियमित नियुक्ति पत्र पाकर मैं यह सोचकर बहुत खुश था कि भारत ही नहीं विश्व के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में मुझे सेवा करने का मौका मिला है।

अगले ही दिन मैं नियुक्ति-पत्र और अपने शैक्षिक दस्तावेज लेकर विश्वविद्यालय में नियुक्ति प्रक्रिया को पूरा करने के लिए पहुँच गया। विश्वविद्यालय में जाने पर मुझे पता चला कि विश्वविद्यालय में दो परिसर हैं। एक ओल्ड कैम्पस व दूसरा न्यू कैम्पस के नाम से जाने जाते हैं। ओल्ड कैम्पस जोकि बेरसराय गाँव के पास स्थित है और उस समय मुख्य कैम्पस कहलाता था, क्योंकि इसमें प्रशासन भवन, केन्द्रीय पुस्तकालय, वित्त विभाग, छात्रावास कार्यालय, बैंक, पोस्ट ऑफिस व विश्वविद्यालय के स्कूल जैसे कि एसआईएस, एसएसएस व एसएल थे तथा दूसरी तरफ विश्वविद्यालय का न्यू कैम्पस है जोकि ओल्ड कैम्पस के पीछे पहाड़ियों के बीच में स्थित है जिसमें स्वास्थ्य विभाग, कमल कॉम्पलेक्स तथा सभी छात्रावास स्थित थे।

नियुक्ति की सारी प्रक्रिया तो ओल्ड कैम्पस में थी लेकिन स्वास्थ्य संबंधी मुझे जाँच के लिए न्यू कैम्पस स्थित स्वास्थ्य केन्द्र जाना पड़ा। जाँच पड़ताल के बाद मैं न्यू कैम्पस को और जानने की इच्छा से आगे बढ़ा तो मैं वहाँ भी प्रकृति का नजारा देखता ही रह गया। पूरे कैम्पस को लम्बे-लम्बे घने पेड़ों ने घेर रखा है और चारों तरफ हरियाली ही हरियाली दिखाई दे रही थी। मई के महीने की तेज धूप को भी घने पेड़ों की छाया ने ढँक रखा था। लम्बी-लम्बी सुनसान सड़कों को देखकर मैं मन ही मन बहुत खुश हो रहा था। मैंने सपने में भी कभी यह नहीं सोचा था कि दिल्ली में भी कोई ऐसी जगह होगी जहाँ हरियाली ही हरियाली और अत्यधिक पेड़ होने के साथ इतना खुला स्थान भी होगा। यह देखकर ऐसा लग रहा था कि यह क्षेत्र दिल्ली का नहीं है बल्कि भारत का एक विशाल गाँव है जहाँ भिन्न-भिन्न भाषा के लोग हॉस्टल में रहते हैं। भारत के सभी राज्यों की संस्कृति के दर्शन का होना अपने आप में एक ऐसा एहसास था जोकि भुलाया भी नहीं जा सकता। अंत में जब ब्रह्मपुत्र हॉस्टल की तरफ गया तो पूरा रास्ता ऊँची ढलान वाली सड़कों से बना हुआ था। सड़क के दोनों ओर हरियाली, खाईयाँ देखकर इस बात का एहसास हो रहा था कि मानो भारत के किसी पहाड़ी क्षेत्र में प्रवेश कर लिया हो।

वर्ष 1979 के जून की पहली तारीख को मैंने अपना पदभार संभाल लिया। मुझे स्कूल ऑफ सोशल साइंस में कार्य करने का मौका दिया गया।

एक वर्ष बाद ही हमारा स्कूल भी न्यू कैम्पस में शिफ्ट हो गया। मैं मन ही मन बहुत खुश हुआ क्योंकि मैं न्यू कैम्पस की प्राकृतिक सुन्दरता से काफी प्रभावित था। समय के साथ-साथ सारा ओल्ड कैम्पस ही न्यू कैम्पस में शिफ्ट हो गया। न्यू कैम्पस में केंद्रीय पुस्तकालय के लिए गगनचुम्बी मीनार की भांति पुस्तकालय भवन का निर्माण कराया गया जो आज भी विशाल स्तम्भ की भांति खड़ा हुआ अपनी ऊँचाई की वजह से विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ा रहा है। आज का पुस्तकालय पिछले पुस्तकालय की तुलना में काफी आधुनिक और डिजिटल हो गया है। पहले छात्रों को अपने मन-मुताबिक किताब ढूँढने में काफी समय लगता था लेकिन आज डिजिटल इजेशन होने से सिर्फ पलभर में वे अपनी पुस्तक ढूँढ लेते हैं। उस समय कुछ ही गिनेचुने छात्रावास थे जिससे सारे छात्रों को छात्रावास नहीं मिल पाता था लेकिन आज विश्वविद्यालय में 18 छात्रावास हैं जिससे छात्रों की हॉस्टल संबंधी समस्या का समाधान हो गया है। इसी तरह पहले जीवन विज्ञान संस्थान और पर्यावरण विज्ञान संस्थान एक बिल्डिंग के अन्दर हुआ करते थे। लेकिन आज जीवन विज्ञान संस्थान, पर्यावरण विज्ञान संस्थान के लिए अलग बिल्डिंग हैं। किसी जमाने में इस विश्वविद्यालय का गंगा ढाबा बहुत मशहूर था। यहाँ पर छात्र व छात्राएँ पत्थरों पर झुण्ड बनाकर बैठते थे और आपस में राजनीतिक मुद्दों पर विचार-विमर्श के साथ-साथ गर्मागर्म चाय का आनन्द लेते थे। यही कारण है कि आज भी जेएनयू के भूतपूर्व छात्र देश के उच्च राजनैतिक पदों पर आसीन होते हुए भी गंगाढाबा की राजनीतिक बहसों की यादों को नहीं भुला पाते हैं और समय-समय पर गंगाढाबा के प्रांगण की राजनीति में शामिल होने के लिए आतुर रहते हैं। यही वजह है कि आज भी गंगाढाबा की शान में कोई कमी नहीं आई है।

अंत में मैं यह बताना चाहता हूँ कि वर्तमान समय में विश्वविद्यालय में बहुत से विभागों व स्कूलों का नवनिर्माण होने के बावजूद भी इसकी प्राकृतिक सुन्दरता में कोई कमी नहीं आई है। विश्वविद्यालय अपने आप में पूरा विश्व समेटे हुए है, जिसका वर्णन करना हमारी क्षमता से परे है। जेएनयू को भूलना मेरे लिए ही नहीं बल्कि यहाँ से जुड़े अन्य लोगों के लिए भी असम्भव होगा

क्योंकि 'जेएनयू' नाम ही हमारे जीवन की धड़कन और जिंदगी का सार है। मुझे आज बड़ा दुख: होता है जब लोग जेएनयू की घटनाओं को राजनीतिक रूप देकर अनावश्यक ही विश्वविद्यालय और देश को बदनाम कर रहे हैं।

मैं अपने इस लेख के माध्यम से आम समुदाय को यह संदेश

देना चाहता हूँ कि जेएनयू एक ऐसा प्रतिष्ठित संस्थान है जिसने कई बड़ी-बड़ी हस्तियों को शिक्षा देकर देश और विदेश के उच्च पदों पर पहुँचाकर देश का गौरव बढ़ाया है। आज भी जेएनयू मेरा जीवन व मेरा अभिमान है आज भी मैं इसपर गर्व करता हूँ। जेएनयू को शत-शत-नमन।

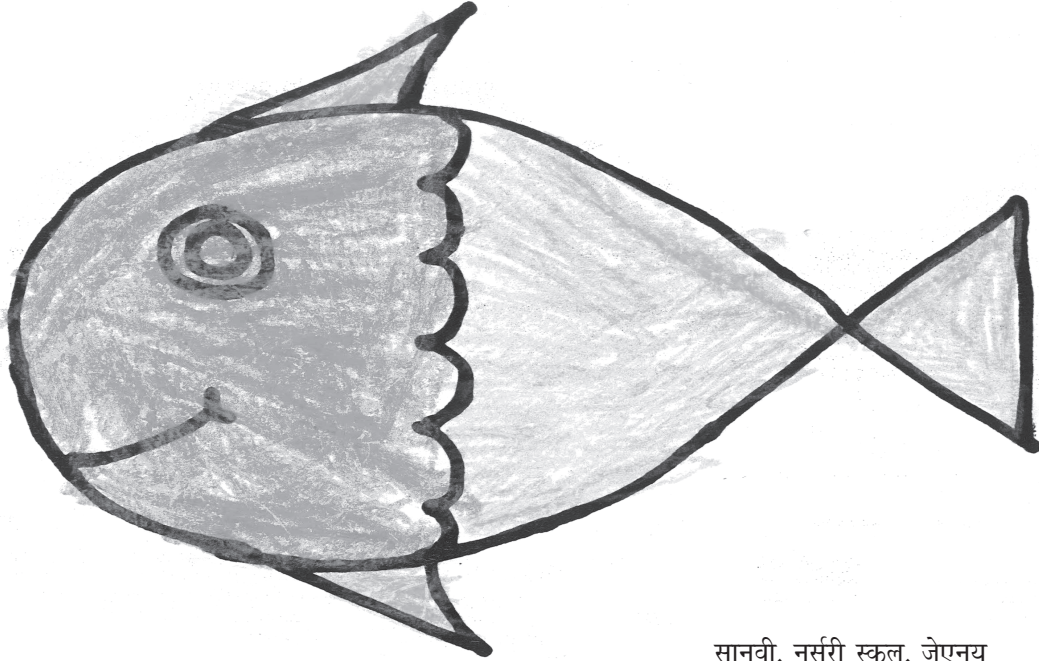
कविता

शम्भुनाथ सरकार, जेएनयू के प्रशासन शाखा में वरिष्ठ सहायक हैं। प्रस्तुत है उनकी कविता :

गृहस्थी

बहुत मुश्किल है यहां खो जाना
या यहां से भाग जाना
घुमावदार यह खस्ताहाल गलियारा
वक्त के तारकांटों से घिरे हुए
फिर भी रखवाली करनी पड़ती है
वैसे ही जैसे मचान पर बैठकर किसान
अपनी उपज की रखवाली करता है।
सारा दिन चलता है महायुद्ध
हंसी और नींद चुरा लेता है
मैं मोर्चा का वह गड़ढा जो

गढ़ के चारों ओर रक्षा के लिए
बनाया गया है
प्रतीत होता है जैसे
मैं वक्त के हाथों यमक जैसा
हो गया हूँ
भिन्न-भिन्न अर्थों में
कई बार प्रयोग किया जाता है।
बहुत मुश्किल है यहाँ से भाग जाना
बहुत मुश्किल है यहाँ रह पाना
या यहां खो जाना
बहुत मुश्किल है।



सानवी, नर्सरी स्कूल, जेएनयू

यादों के गलियारे से

मेरा ये सफर करीब 38 वर्ष का

श्रीचन्द खितौलिया



श्रीचन्द खितौलिया, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अनुभाग अधिकारी हैं। इन्होंने अपना एक लम्बा समय इस विश्वविद्यालय को दिया है। प्रस्तुत हैं उनके संस्मरण के कुछ अंश।

मैंने जेएनयू में 18 मई, 1979 को अपना कनिष्ठ लिपिक का पद ग्रहण किया था। मेरी पोस्टिंग शुरू-शुरू में जीवन विज्ञान संस्थान में हुई। उस समय नए परिसर (एकाडमिक कॉम्प्लेक्स) में सिर्फ दो इमारतें ही थी : (1) जीवन विज्ञान संस्थान व (2) कम्प्यूटर पद्धति संस्थान। लाइब्रेरी का सिर्फ ढांचा ही (पिलर) खड़ा था। बाकी सारा जंगल पड़ा था। उस समय विश्वविद्यालय में 6 दिन का सप्ताह हुआ करता था। सिर्फ दूसरे शनिवार का अवकाश हुआ करता था। सर्दियों में शाम 5 बजे काफी अंधेरा हो जाता था। उस समय कार्यालय से निकल कर बस स्टाप, जोकि कम्प्यूटर साइंस के पास है, पहुँचने में डर लगता था। लेकिन हम 4-5 के ग्रुप में निकलते थे तो ठीक लगता था।

विश्वविद्यालय में अपना पद संभालने के कुछ महीनों बाद ही मेरा सलेक्शन कई दूसरी संस्थाओं जैसे- नीपा, ललित कला अकाडेमी, नेशनल फिजिकल लेबोरेट्री में भी हो गया था। परन्तु वहाँ जाने की बजाय मैंने विश्वविद्यालय में ही रहना पसंद किया, क्योंकि यहाँ का वातावरण मुझे बहुत पसंद आया। मुझे करीब 10 वर्ष बाद यानी 1989 में विश्वविद्यालय द्वारा छोटा मकान (जीरो टाइप) आर्बांटाट हुआ और मैंने अपना परिवार मदनगीर (अब डॉ. अम्बेडकर नगर) से विश्वविद्यालय में शिफ्ट कर लिया। पूरी दिल्ली में ऐसी सुरक्षित व प्रदूषण मुक्त जगह कहीं भी देखने को नहीं मिलती। जब भी बाहर से मेरे रिश्तेदार व दोस्त हमारे घर (विश्वविद्यालय) में आते हैं तो वो कैंपस की बड़ाई करते हुए थकते नहीं हैं। वो सभी यही कहते हैं कि भई दिल्ली में आप स्वर्ग में रह रहे हो। विश्वविद्यालय हमारे लिए भी स्वर्ग ही है, क्योंकि यहाँ किसी भी प्रकार की समस्या नहीं है। सभी तरह की सुविधाएँ जैसे बैंक, डाकघर, तारघर, मार्किट आदि सभी तरह की सुविधाएँ हमें प्राप्त हैं।

मैं खुशकिस्मत हूँ कि मुझे तीनों आंतरिक उपकुलपतियों - प्रो. पी.एन. श्रीवास्तव, प्रो. आशिष दत्ता और प्रो. एस.के. सोपौरी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ क्योंकि ये तीनों ही जीवन विज्ञान संस्थान से थे। विश्वविद्यालय में शिफ्ट होने से 10 वर्षों तक रूट नं 680 के बड़े धक्के खाए, उस जमाने में (1979-1989) तक इस रूट की एक-एक घंटे की सर्विस हुआ करती थी, लेकिन कुछ बसें स्पेशल चलती थीं, उन्हीं के सहारे मैंने 10 वर्षों तक सफर किया। मेरे बड़े बेटे का दाखिला सन् 1986 में पहली कक्षा में हुआ। उसे लेकर मैं सुबह 8 बजे घर से निकलता था उसको प्राइमरी स्कूल छोड़ने के बाद मैं आफिस आता था। उस समय विश्वविद्यालय पुराने परिसर में था। उस समय आफिस का समय 10 बजे से 5 बजे तक होता था। उस समय पुराने परिसर से नए परिसर के बीच एक रूट 666 होता था।

विश्वविद्यालय 1992 में अपने नए परिसर में शिफ्ट हुआ। 1992 से अब तक नए परिसर में ही हूँ। मैंने जीवन में जो कुछ भी पाया है उसमें विश्वविद्यालय का विशेष योगदान रहा है। इसी विश्वविद्यालय ने मुझे नए-नए दोस्त दिए जिनके साथ मैंने जीवन के सुख-दुख बांटे। इनमें 5 दोस्त जिनको 'पाँच पांडवों' के नाम से जाना जाता है, हम पाँचों का संबंध एक परिवार की तरह है। हम एक दूसरे के सुख-दुख में भी साथ होते हैं। अब तक का सफर बहुत अच्छा कटा और आगे भी उम्मीद करता हूँ कि अच्छा कटेगा। इसी वर्ष (2017) जुलाई में मैं सेवानिवृत्त हो जाऊँगा। पता नहीं इसके बाद किस्मत कहाँ ले जाती है। जाने के बाद विश्वविद्यालय की बहुत याद आएगी।

रचनाएँ आमंत्रित

जेएनयू परिसर के आगामी अंकों के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया अपने स्तरीय लेख, कहानी, कविता, समीक्षा, संस्मरण आदि सॉफ्ट व हार्ड कॉपी में अपनी फोटो सहित निम्नलिखित पते पर भिजवाएं : प्रबंध संपादक, जेएनयू परिसर, राजभाषा प्रकोष्ठ, 301, प्रशासन भवन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन नं. 011-26704023
ईमेल: hindiunit@mail.jnu.ac.in

भारतीय साहित्य और संगीत में अमीर खुसरो का योगदान

डॉ. अरविन्द कुमार

जेएनयू के पूर्व छात्र और कानूनी सलाहकार।



इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अमीर खुसरो जैसा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति जो कवि भी थे और योद्धा भी थे, ने साहित्य संगीत, कानून, शासन-व्यवस्था, इतिहास लेखन, सुरक्षा, युद्धनीति, कला, विज्ञान, चिकित्सा, कौमी एकता तथा सूफी मार्ग आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपने अतुलनीय लेखन से योगदान दिया है। जिसको एक शोधपत्र की सीमाओं में समेटना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। अतः इस शोध पत्र में सिर्फ दो क्षेत्रों साहित्य व संगीत में उनके योगदान को शब्दों द्वारा निरूपित करने का दुष्कर प्रयास किया गया है। अमीर खुसरो का जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जिले में 1253 ई. में हुआ था। अब उनके गृह नगर को मोमीनाबाद के नाम से जाना जाता है। जहाँ ब्रज भाषा बोली जाती है। उनकी माँ, दौलत नाज एक हिन्दू राजपूत महिला थी जिनके पिता अर्थात् खुसरो के नाना सुल्तान बलबन के युद्ध मंत्री थे। जो बाद में इस्लाम धर्म कुबूल करने के बाद इमादुलमुल्क के नाम से जाने गए। पिता अमीर सैफुद्दीन तुर्किस्तान के लाचीन कबीले के सरदार थे जो सुल्तान इल्तुतमिश के दरबार में महत्वपूर्ण सैनिक पद पर थे। जीवन के नवें वर्ष में पिता का देहान्त हो जाने से लालन-पालन का सारा भारत उनके नानाजी के कंधों पर था। इस्लाम धर्म कुबूल करने के बाद भी घर में हिन्दू धर्म के सारे रीति-रिवाज चलते रहे। जिसमें गाना-बजाना और संगीत भी शामिल था। अतः राष्ट्रभक्ति तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता उनको विरासत में मिली थी। जो उनकी लगभग सभी रचनाओं में मिलती है। नुह-सिपहर के अपनी मसनवी में वे कहते हैं कि,

“किश्वर हिन्द अस्त बहिश्तो बर जमीन। हुब्बे वतन हसत जाइमाँ ब यकीन। अर्थात् देश-प्रेम इमान का भाग है।

अमीर खुसरो के मित्र जियाउद्दीन बरनी जो तत्कालीन इतिहासकार थे के अनुसार खुसरो ने कुल 99 साहित्यिक रचनाएँ की थीं किन्तु दुर्भाग्यवश उनमें से अब केवल 22 ही प्राप्त हैं। अपने 73 वर्ष के दीर्घायु में उन्होंने सुल्तान बलबन से लेकर बादशाह गयासुद्दीन तुगलम तक कुल 10 शासकों के राज-व्यवस्था को देखा। उनका पूरा परिवार सूफी मार्ग के चिश्ती विचारधारा से ताल्लुक रखता था तथा हजरत निजामुद्दीन औलिया उनके गुरु थे। चिश्ती सम्प्रदाय में ईश्वर को पिया अर्थात् पति तथा आत्मा को पत्नी व ईश्वर तथा आत्मा के संबंध को पति और पत्नी के संबंध के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः उनकी रचनाओं में ईश्वर को अधिकतर पिया से संबोधित किया गया है। अमीर खुसरो के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता थी स्व-रसिक भाषा

में कविता कर उसे विकास की ओर मोड़ना। खुसरो के समय की प्रचलित भाषा अनगढ़ थी जिसे उन्होंने हिन्दुस्तानी नाम दिया।

यह हिन्दुस्तानी या हिन्दवी भाषा, खड़ी बोली जो अभि विकास के पहले या दूसरे पायदानों पर भी, ब्रज भाषा, अवधी, सिंधी, लाहौरी, पंजाबी गुजराती और अपभ्रंश आदि की मिली-जुली भाषा थी। खुसरो के समकालीन कवियों ने मध्यकालीन ‘संस्कृत’ को अपना आदर्श बनाया जिन्होंने भाषा और अलंकार पर जोर दिया जिससे उनकी रचनाएँ कृत्रिम हो गईं।

खुसरो ने हिन्दुस्तान को स्वर्ग मानने के सात कारण बताए थे जिसमें से एक कारण यहाँ की संस्कृत भाषा थी। उनके अनुसार विश्व में दो ही प्राचीन और मौलिक भाषाएँ थीं, अरबी और संस्कृत। अरबी की तरह संस्कृत भाषा में भी किसी अन्य भाषा से कोई भी शब्द नहीं लिया गया है बल्कि विश्व की अन्य भाषाओं ने संस्कृत के बहुत सारे शब्द को अपनाए। किन्तु संस्कृत भाषा के इतने प्रबल समर्थक होने के बावजूद उन्होंने अपनी रचना संस्कृत में न करके अनगढ़ हिन्दवी भाषा में किया जो विभिन्न भाषाओं की मिश्रण थी तथा जो अभी तक पूरी तरह से विकसित भी नहीं हो पाई थी। क्योंकि उनका मानना था संस्कृत में लिखी गई साहित्यिक रचनाएँ आम जनता के पहुँच से बाहर हो जाएँगी तथा इसका लाभ सीमित हो जाएगा। खुसरो के बाद के बहुत से कवियों तथा सूफी सन्तों ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया था वहाँ प्रचलित क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग किया जैसे गुजरात के संत नरसिंह मेहता ने गुजराती में सूरदास ने ब्रज भाषा में, तथा कबीर दास की भाषा भी खुसरो की भाषा की तरह कई भाषाओं का मिश्रण था जिसे पंचमेल खिचड़ी कहा गया।

इनके बाद के सूफी सन्तों और कवियों में जिसमें सगुण तथा निर्गुण दोनों मार्गी थे खुसरो की भाषा को तो अपनाया ही साथ ही उनके दोहों, चौपाइयों तथा छन्दों पर भी अमीर खुसरो के साहित्य की स्पष्ट की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। जैसे प्रेम से संबंधित खुसरो के दोहे - “खुसरो पाती प्रेम की, बिरला बाँचे कोय। वेद कुरान पोथी पढ़े प्रेम बिना का होय।” की स्पष्ट छाप उनके डेढ़ सौ वर्षों बाद जन्में कबीर के दोहे “पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, भया न पंडित कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।” पर दिखाई पड़ती है। खुसरो की एक अन्य कविता: “खुसरो दरिया प्रेम का, सो उल्टी वाकी धार, जो उबरा सो डूब गया, जो डूबा हुआ पारा।” का प्रभाव कबीर दास के दोहे : कबीर दास की उल्टी वाणी, बरसै कंबल भीजै पानी।” में स्पष्टतः देखा जा सकता है। इसके

अतिरिक्त पीड़ा से संबंधित खुसरो का दोहा : “खुसरो सोई पीर है, जो जानत पर पीर जो पर पीर न जानई, सो काफ़ीर बे पीर।” का प्रभाव पंद्रहवीं शताब्दी के गुजरात के भक्ति मार्गी संत श्री नरसिंह मेहता की रचना : “वैष्णव जन तो तेने कहिए, जो पीर पराई जाने रे।” पर दुःख उपकार करे तोये, मन अभिमान न आने रे।” पर स्पष्ट रूप से दिखता है। इसी प्रकार उनके पनघट तथा जुदाई के गीतों का प्रभाव सूरदास की रचनाओं में परिलक्षित होता है। खुसरो की एक अन्य कविता: “तू मैं, मैं तू एक है, और ना दूजा कोय। मैं तू कहना जब छूटे, वही-वही सब होया।” का प्रभाव स्पष्ट रूप से निम्न कविता पर दिखता है : “जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि है मैं नाहिं।”

अमीर खुसरो ने हिन्दवी भाषा साहित्य में बहुत से प्रयोग प्रथम बार किए थे जिनमें बूझ पहेली या अंतर्लापिका, बिन बूझ पहेली या बहिलापिका, दोहा, पहेली, निस्वतें संबंध या तुलनाद्ध कहानियां या मुकरियां अर्थात् पहेलीनुमा गीत, तथा दो सखुन आदि शामिल हैं। साहित्य के क्षेत्र में ये प्रयोग अनूठे थे जिससे लोकसाहित्य के विकास में काफी मदद मिली तथा ये सभी प्रयोग आम जनता में अत्यधिक प्रचलित हुए। इन सभी प्रयोगों का यहाँ पर संक्षिप्त वर्णन अनिवार्य है।

(1) दो सखुन में दो कथन या उक्ति होती है जिनमें दो मित्र प्रश्न किए जाते हैं जिनका एक ही शाब्दिक उत्तर होता है किंतु दो भिन्न अर्थ होते हैं जैसे -

क. दीवार क्यों टूटी? राह क्यों लूटी?

उत्तर राज न था।

यहाँ पर पहले प्रश्न के लिए राज का अर्थ राजमिस्त्री से है तथा दूसरे प्रश्न के लिए राज का अर्थ राज-व्यवस्था से है।

ख. पथिक प्यासा क्यों? गधा उदासा क्यों?

उत्तर ‘लोटा’ न था।

पहले प्रश्न के उत्तर के लिए लोटा एक बर्तन है जबकि दूसरे प्रश्न का उत्तर मिट्टी में लोट लगाने से है।

ग. जोगी क्यों भागा? ढोलकी क्यों न बजी?

उत्तर ‘मढ़ी’ न थी।

पहले प्रश्न के लिए मढ़ी का अर्थ झोपड़ी है जबकि दूसरे प्रश्न के लिए ढोलक के दोनों मुहानों पर चमड़ा न लगाने से है।

घ. घर अंधियारा क्यों? फकीर बिगड़ा क्यों?

उत्तर ‘दिया’ न था।

पहले प्रश्न का उत्तर घर में ‘दिया’ यानी दीपक नहीं था जबकि दूसरे का अर्थ फकीर को ‘दान दिया’ नहीं था।

(2) खुसरो की कहमुकरियाँ या पहेलीनुमा गीत: यह बाद में रामपुर सहसवान, आगरा, किराना, पाटियाल, ग्वालियर आदि में प्रचलित हुआ। इसमें पहेली के अन्त में ही उत्तर छुपा होता है जैसे:

वो आवै तब शादी होवै, उस बिन दूजा और ना कोय। मीठे लगे वाके बोल, ऐ सखी साजन ना सखी ढोल। एक अन्य उदाहरण देखिए : “सगरी रैन मोरे संग जागा, भोर भई तब बिछुड़न लागा। वाके बिछुड़त काटे हिया, ऐ सखी साजन ना सखी दीया।”

(3) खुसरो के बूझ पहेली या अंतर्लापिका: इस पहेली में उत्तर शब्दशः पहेली के अन्दर ही छिपा रहता है जैसे: चोरी किया ना खून किया, वाका सर क्यों काट लिया हाड़ की देह उज्जर रंग, लिपटा रहे नारी के संग। उत्तर - नाखून

(4) खुसरो की बिन-बूझ पहेली (बहिलपिका)

इसमें उत्तर नहीं दिया गया होता है। जैसे:- “एक गुणी ने यह गुण कीन्हा, हरियल पिंजरे में दे दीन्हाँ। देख जादूगर का हाल, डाले हरा निकाले लाल।” उत्तर - पान। एक अन्य उदाहरण देखिए: - “एक थाल मोतियों से भरा, सबके सर पर औंधा धरा। चारों ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरै” उत्तर - आसमान

(5) खुसरो की निस्वतें: - (संबंध या तुलना)

1. आदमी और गेहूँ में क्या निस्वत है? उत्तर - बाल
2. मकान और पायजामे में क्या निस्वत है? उत्तर - मोरी (पायजामे के मोहरी को मोरी कहते हैं)
3. जानवर और बन्दूक में क्या निस्वत है। उत्तर : दोनों में घोड़ा होता है।
4. बादशाह और मुर्गा में क्या निस्वत है : उत्तर ताज
खुसरो ने अपनी रचनाओं में शृंगार रस, करुण रस तथा वीर रस का अद्वितीय प्रयोग किया है।

खुसरो रैन सुहाग की, जागी पिय के संग।

तब मोरि मन पीहु को, दोऊ भए एक रंग ॥

करुण रस: - नदी किनारे मैं खड़ी, और पानी झिलमिल होए। पिय गोरी मैं साँवरी, अब किस विध मिलना होए ॥

खुसरो ने नारी आन्दोलन के भावात्मक पक्ष को उजागर किया है, जो उनके विदाई गीत में परिलक्षित होता है:

“काहे को ब्याही विदेश रे लखी बाबुल मोरे”

खुसरो की बाल साहित्य को देन : खुसरो की कुछ अनमोल पहेलियाँ आज भी बाल साहित्य में प्रचलित हैं जैसे: - “तेली का तेल, कुम्हार का डंडा हाथी की सूँड, नवाब का झंडा।” उत्तर - चराग या दीया। “काठ का घोड़ा, लोहे की लगाम चल मियाँ घोड़े, यही तेरा काम।” उत्तर - खुरपा। “कमर पकड़ के दिया धकेल तब देखो कुदरत का खेल” उत्तर - झूला

हिन्दुस्तानी संगीत में अमीर खुसरो का योगदान:

साहित्य की तरह संगीत में भी खुसरो ने अनेक प्रयोग किए। उन्होंने भारतीय वीणा, शास्त्रों के अनुसार जिसके जनक स्वयं महादेव को माना गया है तथा इरानी तम्बूरा को मिलाकर ‘सितार’

का आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त मृदंगम् में सुधार करके तबला का आविष्कार किया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दुस्तानी तथा इरानी संगीत के मिश्रण से संगीत के बहुत से विधाओं की संगीत के इतिहास में पहली बार शुरुआत की। जिसमें मुजीर, साजगारी, ऐमान, उश्शक, मुआफीक, गजन, जीलाफ, फरगना, सरपरदा, बाखर्ज, फिरोदस्त, मुनाम, कौल, तराना, खयाल, निगार, बसीत, शहाना आदि प्रमुख विधाएँ हैं। इसके अतिरिक्त परसियन, चार उसुल और बारह परदों का भी आविष्कार अमीर खुसरो ने ही किया था। कव्वाली में उच्चतम बिन्दु पर पहुँच कर शमा बाँध देने की प्रथा की शुरुआत भी खुसरो ने ही की थी।

भारतीय सिनेमा के बहुत से सुपरहिट गाने खुसरो के नज़्म को आधार बनाकर लिखे गए। उनकी ये प्यारी सी नज़्म: “जिहाल-ए मिश्किन मुकोन त्गाफुल; (इरानी) दुराये नैना बनाय बतियाँ (ब्रजभाषा)। के जावे हिज़ा नदारूम-ए-जान (इरानी), ना लैहों काहे लगाए छतियाँ (ब्रजभाषा)।” अपने आप में अद्वितीय है। क्योंकि इसमें इरानी और ब्रजभाषा का अद्वितीय मिश्रण किया गया है। नज़्म की पहली, तीसरी, पाँचवीं, सातवीं तथा नवीं पंक्ति इरानी भाषा में है जबकि दूसरी चौथी, छठी, आठवीं और दसवीं पंक्ति ब्रजभाषा में है।

खुसरो के इसी अद्वितीय नज़्म को आधार बनाकर गुलजार साहब ने गुलामी फिल्म के लिए- “जेहाल-ए-मिस्कीन मुकोन बरंजीश बहाल-ए-हिज़ा बेचारा दिल है, सुनाई देती है दिल की धड़कन हमारा दिल या तुम्हारा दिल है” लिखा।

इसके अतिरिक्त “बहुत कठिन है डगर पनघट की। झटपट भर लाऊँ जमुना से मटकी।” खुसरो की नज़्म “बहुत कठिन है डगर पनघटन की! कैसे मैं भर लाऊँ मदवा से मटकी” पर आधारित है।

इनके अतिरिक्त हिंदी फिल्मों के तमाम विदाई गीत, सावन गीत, बसंत गीत, बरखा गीत, विरह गीत, साजन गीत, निजाम

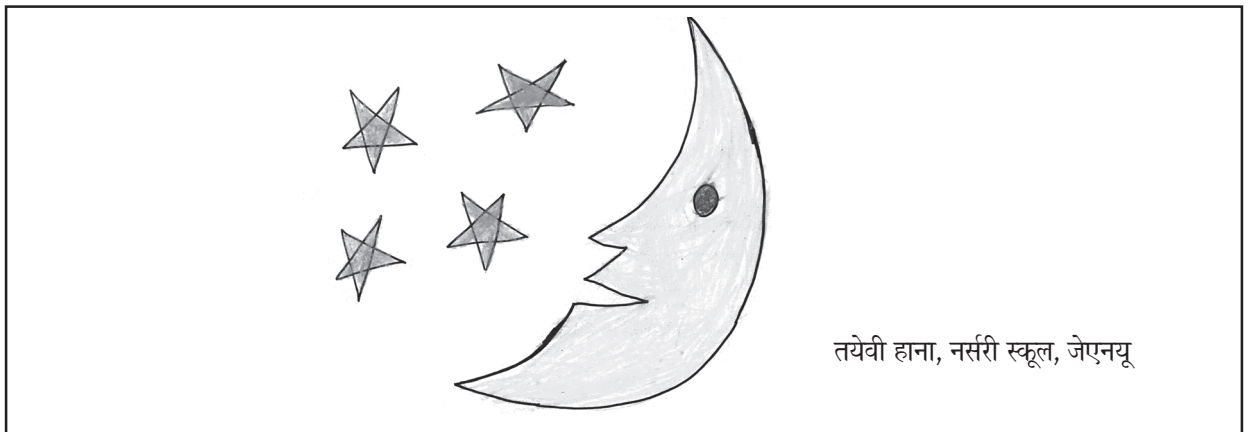
गीत, झूला गीत, होली गीत, पनघट गीत आदि अमीर खुसरो के नज़्म से प्रेरित हैं।

“हिंदी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास में सूर्यकांत शास्त्री ने अमीर खुसरो के प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मध्यकालीन भारत Medieval India (मेडिएवल इंडिया) में डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने खुसरो के राष्ट्र भक्ति की तारीफ की है। तथा उनके साहित्य को उत्कृष्ट बताया है।

यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि खुसरो के बाद के कवियों को, चाहे वो कबीरदास हों, सूरदास, तुलसीदास या नरसिंह मेहता हों छात्रों के पाठ्यपुस्तकों में उनको स्थान मिल चुका है, किन्तु हिन्दवी के जनक खुसरो के साहित्य को स्थान पाना अब भी शेष है। अमीर खुसरो के साथ ये सौतेला व्यवहार बहुत से विद्वानों की समझ से परे है। 1997 में डॉ. इरसाद नैय्यर ने अपने शोध पत्र में खुसरो विरोधी साजिशों और रचनाओं का पर्दाफाश किया था। तब से अबतक तीन बार पाठ्यक्रम में परिवर्तन किए गए किन्तु खुसरो का कोई नाम-ओ-निशान नहीं था।

संदर्भ सूची

1. के.के. खुल्लर (1983) ‘अमीर खुसरो और हमारा मुश्तरफा कल्चर’।
2. अमीर खुसरो ‘अमीर खुसरो देहल्वी’।
3. एम.एच.आर.डी. (1975) ‘अमीर खुसरो मेमोरियल वॉल्यूम’।
4. एच.एस. अस्करी (1992) ‘अमीर खुसरो : एज ए हिस्टोरियन।
5. जी.एस. नारंग ‘अमीर खुसरो का हिंदी काव्य’, 2002।
6. एम. डब्ल्यू मिरजा ‘द लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो, 1935।
7. आर.आर. फ्रान्सेस्विनी ‘मीस्टीसीज़्म, लव एण्ड पोएट्री: ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ अमीर खुसरो एण्ड जैकोपोन-दा-तोडी, 2012।
8. के.एम. पटेल ‘सूफीज़्म ऑफ अमीर खुसरो एण्ड भक्ति ऑफ कबीर : ए कम्परेटिव स्टडी इन द लाइट ऑफ देअर वर्क्स, 2005।
9. जोए अंसारी (सं.) लाइफ, टाइम्स एण्ड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो देहल्वी, 1975।



तयेवी हाना, नर्सरी स्कूल, जेएनयू

विकलांग महिलाएं एवं उनकी वैवाहिक स्थिति

पूजा सिंह

पूजा सिंह, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के 'सामाजिक विज्ञान संस्थान' में 'सेंटर फॉर स्टडी ऑफ सोशल सिस्टम्स' में शोध छात्रा है। प्रस्तुत लेख उनके एक महत्वपूर्ण शोध का सारांश है।

प्रस्तुत शोध-पत्र समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारत में विकलांगता की अवधारणा या स्वरूप को निरूपित करने का एक प्रयत्न है। शोधपत्र में विकलांगता की अवधारणा का लैंगिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए भारत में विकलांग महिलाओं की वैवाहिक स्थिति का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है। निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि भारत में विकलांग महिलाओं को उनके वैवाहिक, लैंगिक तथा प्रजनन सम्बन्धी अधिकारों से विकलांगता की वजह से उपेक्षित किया जाता रहा है जो आज भी भारतीय समाज में किसी भी सामाजिक वर्ग, जाति व धर्म में देखा जा सकता है।

प्रस्तावना

विकलांगता की अवधारणा को समझना इसके स्वरूप, प्रकार एवं समाज के साथ संबंधों पर निर्भर करता है। इसीलिए मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों के अनुसार विकलांगता की कोई भी वैश्विक परिभाषा नहीं हो सकती यह एक सापेक्षिक अवधारणा है जो समय व परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनीय है। परन्तु विकलांगता के सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए इसको दो प्रमुख मॉडल द्वारा समझा जाता है। ये मॉडल हैं - चिकित्सीय एवं सामाजिक। चिकित्सीय मॉडल के अनुसार विकलांगता को शारीरिक व मानसिक व्याधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके कारण किसी व्यक्ति की कार्यात्मक क्षमता घट जाती है। जबकि सामाजिक मॉडल विकलांगता को एक सामाजिक समस्या मानता है जिसका कारण शारीरिक कम परन्तु सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक ज्यादा है। ये सभी कारण विकलांग व्यक्ति को समाज में समायोजन स्थापित करने में बाधा पहुंचाते हैं। परिणामस्वरूप विकलांग व्यक्ति मानव जीवन हेतु आवश्यक संसाधनों का उपयोग नहीं कर पाते जोकि इनकी गरीबी, समाज में निम्न स्थान व पतन आदि दशाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं। मानवशास्त्री व समाजशास्त्री मेहरोत्रा (2013) का मानना है विकलांगता की अवधारणा को समझने हेतु इसके सांस्कृतिक पक्ष को जानना बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि विभिन्न समाजों में एक ही वस्तु को व्यक्ति अलग-अलग अर्थ प्रदान करते हैं। चूँकि शोधपत्र विकलांग महिलाओं के जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित है अतः भारत में महिलाओं की स्थिति की सर्वप्रथम व्याख्या करना

समाचीन प्रतीत होता है। जनसांख्यिकी आंकड़ों के अनुसार भारत की लगभग आधी आबादी पर महिलाओं का वर्चस्व है। परन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि अधिकांश महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखा गया है। जिस कारण वो हाशिए पर रहती हैं। यही तथ्य जब विकलांग महिलाओं के बारे में बताया जाए तो यह ज्ञात होता है कि विकलांग महिलाएं अपने महिला होने के साथ-साथ विकलांग होने के कारण दोहरे शोषण का शिकार हैं।

भारत में विकलांगता की स्थिति व स्वरूप

विश्व स्वास्थ्य संगठन के ताजा आंकड़ों के अनुसार भारत की 15 प्रतिशत आबादी किसी न किसी प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त है। भारत विश्व में द्वितीय सर्वाधिक आबादी वाला देश है अतः यहाँ विश्व की सर्वाधिक विकलांग जनसंख्या निवास करती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आंकड़ों के विपरीत यदि भारत सरकार के आंकड़ों को देखा जाए तो वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार मात्र 1.8 प्रतिशत आबादी ही विकलांगता से ग्रसित थी जो वर्ष 2011 के आंकड़ों में कुछ बढ़कर 2.29 प्रतिशत हो गयी। जिसमें आधी संख्या विकलांग महिलाओं की भी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन और भारत सरकार के आंकड़ों में भारी अंतर का कारण इन दोनों संगठनों द्वारा अपनायी गयी विकलांगता की परिभाषा है। भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी परिभाषा में लोचमयता का अभाव है साथ ही यह चिकित्सीय मॉडल पर आधारित है जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा चिकित्सीय तथा सामाजिक दोनों पक्षों को ध्यान में रखा गया है। चूँकि भारत में विकलांगता से संबंधित समाजशास्त्रीय शोध अभी अपनी शैशव अवस्था में है जिसमें काफी कुछ किया जाना अभी शेष है। उपरोक्त आलेख में यह शोधपत्र भारत में विकलांग महिलाओं की वैवाहिक स्थिति पर प्रकाश डालता है।

उत्तर-पश्चिमी भारत में विकलांग महिलाओं की स्थिति की व्याख्या करते हुए बागची (2008) बताती हैं कि हरियाणा और पंजाब में विकलांग महिलाओं को विपरीत परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अधिकांश महिलाएं शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं से वंचित हैं, समाज में इनका स्थान अदृश्य व नगण्य है। विकलांग महिलाओं को अशुभ व मनहूस माना जाता है तथा सामाजिक कार्यक्रमों में भाग नहीं लेने दिया जाता है।

इसके अलावा विकलांग महिलाओं को उनके ही घर में भेदभाव का सामना करना पड़ता है। उनके सशक्तिकरण हेतु परिवार भी बहुत अधिक प्रयासरत नहीं दिखते हैं। ठीक यही स्थिति हिमाचल प्रदेश राज्य की भी है। जम्मू-कश्मीर में आतंकवादी घटनाओं का विपरीत प्रभाव भी विकलांग महिलाओं पर देखने को मिला है।

इसके विपरीत एक अन्य शोध में विकलांग महिलाओं की स्थिति की समीक्षा मेहरोत्रा (2004) द्वारा हरियाणा राज्य के अध्ययन में प्रस्तुत की गयी है। उनके अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में विकलांग महिलाएं घर के कार्यों में हिस्सेदार रहती हैं अतः उन्हें विकलांगता के आधार पर घरेलू कार्यों से किसी प्रकार की छूट नहीं है। उनसे किसी काम को करने की उसी प्रकार अपेक्षा की जाती है जिस प्रकार घर के अन्य सदस्यों से और यदि विकलांग व्यक्ति सभी कार्यों को करने में सक्षम हैं तो उन्हें विकलांग नहीं समझा जाता है।

विकलांग महिलाएं एवं विवाह: एक दृष्टिकोण

भारतीय समाज में महिलाओं की सामाजिक परिस्थिति उनके वैवाहिक स्तर से ही समझी जाती है। हिन्दू संस्कृति में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है जोकि परिवार की स्थापना के लिए अति आवश्यक है। 'यूनाइटेड नेशंस फॉर कन्वेंशन ऑन राइट्स ऑफ़ प्रशन्स विद डिसेबिलिटी' संयुक्त राष्ट्र द्वारा जारी विकलांगता सम्बन्धी एक प्रस्ताव है जिस पर विश्व के कई देशों ने हस्ताक्षर किया है, इसमें विकलांग समुदाय हेतु नियमों व उपबंधों का प्रावधान किया गया है। यह प्रस्ताव इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि विश्व पटल पर विकलांगता सम्बन्धी यह प्रथम प्रयास है जोकि संपूर्ण विश्व को अपने विधानों के माध्यम से जोड़ता है। यह अनुच्छेद संख्या 23 के द्वारा विकलांग व्यक्तियों के विवाह, परिवार, सन्तानोत्पत्ति आदि अधिकारों के सम्बन्ध में प्रावधान करता है (यू.न.सी.आर.पी.डी. 2006:15)। परन्तु विवाह एवं परिवार सम्बन्धी इन अधिकारों को विकलांग व्यक्तियों को प्रदान करने में भारत अभी भी बहुत पिछड़ी स्थिति में है क्योंकि यहाँ तो विकलांग लड़की का विवाह होना भी स्वयं में एक बहुत बड़ी समस्या है। दूसरी तरफ माता-पिता को अपनी कन्या का हर हालत में विवाह करना अनिवार्य है अतः ऐसी स्थिति में विकलांग कन्या का विवाह या तो अनुपयुक्त व्यक्ति से वह भी दहेज देकर होता है या फिर अविवाहित रहकर ही संपूर्ण जीवन बिताना होता है। वैवाहिक निर्णयों हेतु माता-पिता पर निर्भरता अभी भी भारतीय समाज में स्थापित है।

क्लेसिंग (2007) ने अपने राजस्थान और आंध्र प्रदेश सम्बन्धी अध्ययन में पाया कि 80 प्रतिशत विकलांग महिलाएं अविवाहित रहती हैं। अर्थात् केवल 20 प्रतिशत महिलाओं का ही विवाह होता है जिनकी विकलांगता कि स्थिति बहुत ज्यादा गंभीर नहीं है। परन्तु समय परिवर्तन के साथ विवाह सम्बन्धी सोच में भी बदलाव

आया है। एक अन्य रिपोर्ट में विकलांग महिलाओं के विवाह का आंकड़ा कुछ बढ़कर 39 प्रतिशत देखने को मिला है तथा विकलांग पुरुषों की वैवाहिक स्थिति 57 प्रतिशत ज्ञात हुई (चक्रवर्ती 2010)। परन्तु अभी भी विकलांग पुरुषों की तुलना में विकलांग महिलाओं का वैवाहिक स्तर निम्न है। हंस एवं अन्य (2003) द्वारा किए गए चार राज्यों यथा छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, ओडिशा तथा आंध्र प्रदेश के विकलांग व्यक्तियों की स्थिति पर किए गए अध्ययन में निष्कर्ष निकाला कि विकलांग व्यक्तियों में सबसे कम विवाह उन पुरुष व महिलाओं के हुए हैं जो मानसिक रूप से असक्षम हैं लेकिन अन्य प्रकार कि विकलांगता से ग्रस्त पुरुष व महिलाओं के विवाह भी देरी से ही होते हैं। महिलाओं में इसका प्रतिशत ज्यादा है।

उपरोक्त स्थिति के कारणों कि पड़ताल करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में विकलांग महिलाओं को यौन आचार के लिए अनुपयुक्त व अनिच्छुक समझा जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि धार्मिक दृष्टिकोण से विकलांगता पूर्व जन्म के कर्मों का ही प्रतिफल है। अतः विकलांग महिलाओं को अपशुनी, अपवित्र व संतान न दे सकने वाली समझा जाता है (मेहरोत्रा 2013)। एक अन्य कारण समाज कि पुरुष प्रधान सोच भी है। जिसमे आदिकाल से महिलाओं का स्थान हमेशा पुरुषों कि तुलना में निम्न रहा है और वर्तमान में भी निम्नस्तर पर ही है। इस प्रकार के समाजों में विकलांग पुरुष तो आसानी से गैर-विकलांग महिला से विवाह कर लेते हैं पर विकलांग महिला अविवाहित रहती है या फिर किसी विवाहित या विकलांग पुरुष से विवाह करती है।

समाज का विकलांग महिलाओं एवं उनके विवाह के बारे में जो नजरिया है वो उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है पर इसका दूसरा पहलू भी है कि विकलांग महिलाओं कि स्वयं के बारे में क्या सोच है इसे जानना भी आवश्यक है। एक समाज में पुरुष और महिला को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाता है चाहे परिस्थिति एक सी ही क्यों न हो।

यह तो सुस्थापित सत्य है कि विकलांग महिलाएं शोषण का शिकार सबसे ज्यादा होती हैं। यह स्थिति मानसिक रूप से असक्षम महिलाओं में और बढ़ जाती है। विवाहोपरांत परिस्थितियों के साथ समायोजन में भी विकलांग महिलाओं को अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाज में घटती नैतिकता एवं संवेदनशीलता और धन के लालच में कुछ पुरुषों ने विकलांग महिलाओं का भी फ़ायदा उठाने से परहेज नहीं किया। उदाहरणस्वरूप, तमिलनाडु में एक लोक कल्याणकारी योजना के तहत गैर-विकलांग पुरुषों द्वारा दृष्टिबाधित महिलाओं से विवाह करने पर आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है। इस योजना के तहत धन के लालच में बहुत से पुरुषों ने दृष्टिबाधित महिलाओं से विवाह तो कर लिया पर बाद में इन महिलाओं के शोषण की बात सामने आयी।

हर समाज की सोच एक जैसी नहीं होती है। पश्चिमी देशों में ऐसे कई उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं विकलांग पुरुष एवं महिलाएँ भी समृद्ध और खुशहाल दाम्पत्य जीवनयापन कर सकते हैं। वास्तव में विवाहोपरांत समायोजन इस बात पर निर्भर करता है कि विकलांगता के प्रति सोच कैसी है तथा ससुरालवालों की मानसिकता विकलांगता के बारे में कितनी उदार है। भारतीय समाज में भी बहुत से परिवार हैं जो विकलांग महिलाओं की सहायता करते हैं और समानता का व्यवहार भी रखते हैं पर उनकी संख्या कम ही है। आज विकलांग महिलाओं को सामाजिक जीवन में हाशिए पर धकेल दिया गया है जहाँ से जीवंत समाज में शामिल होने में कई बाधाओं को पार करना पड़ेगा। इसके लिए हमें अपने सोचने के तरीके में बदलाव लाना पड़ेगा और विकलांगता को समाज की विभिन्नता के एक प्रकार के रूप में स्वीकार करना होगा। तभी हम एक समावेशी विकसित राष्ट्र का निर्माण कर पाएँगे।

सन्दर्भ सूची

1. इंसा क्लेसिंग, “डिसेबिलिटी एंड सोशल एक्सक्लूशन इन रूरल इंडिया”, रावत पब्लिकेशन, 2007।
2. नीलिका मेहरोत्रा, “वीमेन, डिसेबिलिटी एंड सोशल सपोर्ट इन रूरल हरियाणा”, इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, वॉल्यूम 39, इशू नंबर 52, पेज 5640-5644, 2004।
3. नीलिका मेहरोत्रा, “डिसेबिलिटी, जेंडर एंड स्टेट पालिसी: एक्सप्लोरिंग मार्जिन्स”, रावत पब्लिकेशन: नई दिल्ली, 2013।
4. रीता बागची, “वीमेन विथ डिसेबिलिटी एंड ह्यूमन राइट्स इन नार्थवेस्ट इंडिया”, इन सुधीर कुमार सिंह एंड ए. कच्छप (एडिटेड), “डिसेबिलिटी, सिटीजनशिप एंड सोशल एक्सक्लूशन”, अनामिका पब्लिकेशन: नई दिल्ली, पेज नंबर 187-202, 2008।
5. स. चक्रवर्ती, “डिसेबिलिटी स्टैटिस्टिक्स इन मेजरिंग सम जेंडर डायमेंशन्स: केस इंडिया”, 2010।
6. यूनाइटेड नेशंस कन्वेंशन आन राइट्स ऑफ़ पर्सन्स विद डिसेबिलिटीज, 2006।
7. आशा हंस एवं एनी पेद्री, “वीमेन, डिसेबिलिटी एंड आइडेंटिटी”, सेज पब्लिकेशन: नई दिल्ली, 2003।

कविता

राकेश यादव, जेएनयू के सामाजिक विज्ञान संस्थान में दर्शनशास्त्र में एम.ए. में अध्ययनरत हैं। प्रस्तुत कविता जेएनयू के विश्व हिंदी दिवस की प्रतियोगिता में पुरस्कृत की गई।



खग तेरा ये नीड़ निर्माण

है कैसी यह कशीदाकारी!
जोड़कर तिनका हर बारी,
बना डाला तुमने, शीश महल एक बड़ा महान।
खग तेरा ये नीड़ निर्माण।

इसके बिना तरुवर सूना,
वात गात करती सुख दूना,
सदा गतिशील मानव को रहने का है यह आह्वान,
खग तेरा ये नीड़ निर्माण।

कुछ क्षण का यहाँ ठिकाना,
नहीं पुनः लौटकर आना,
वक्त बदला, मौसम बदला, बदल गया सारा जहान,
खग तेरा ये नीड़ निर्माण।

अब पुरानी बात कहाँ है?
तरु और मेरा साथ कहाँ है?
उग आए बजरी के कानन, एक रक्षक बस भगवान,
खग तेरा ये नीड़ निर्माण।

समीक्षा के लिए पुस्तकें आमंत्रित

जेएनयू परिसर में पुस्तक समीक्षा के नाम से एक नया स्तम्भ शुरू किया जा रहा है। विश्वविद्यालय समुदाय के सदस्यों से आग्रह है कि वे आगामी अंको के लिए हिंदी में प्रकाशित अपनी पुस्तकें समीक्षार्थ निम्नलिखित पते पर भिजवाएं:

प्रबंध संपादक, जेएनयू परिसर, राजभाषा प्रकोष्ठ,

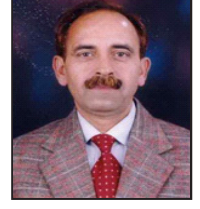
301, प्रशासन भवन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन नं. 011-26704023

ईमेल: hindiunit@mail.jnu.ac.in

लेख :

क्षमा का प्रभाव

डॉ. सत्येन्द्र कुमार



आज के तनावपूर्ण वातावरण में मानव के जीवन में क्षण प्रति क्षण किसी न किसी तरह का संकट जाल मन में बना हुआ रहता है, जिसके कारण हमारा मन अक्सर किसी के प्रति कोई शिकायत, कोई द्वेष, ईर्ष्या या बदले की भावना से ग्रस्त रहता है। लेकिन इसका कोई सकारात्मक प्रभाव हमारे ऊपर नहीं होता, बल्कि हमें इन घातक मनोभावों की पीड़ा झेलनी पड़ती है। किसी को क्षमा करके इन घातक विचारों की पीड़ा से मुक्ति पा सकते हैं। क्षमा करने का अर्थ है, आपके मनोभावों में परिवर्तन अर्थात् स्वयं पर बहुत अच्छा प्रभाव देखना (हमारे मन पर बहुत ही सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।)

आज सबसे घातक रोग है तनाव। तनाव में रहने वाले व्यक्ति का इम्यून सिस्टम धीरे-धीरे कमजोर होकर उसे रोगी बना डालता है। लेकिन किसी को क्षमा करने का सीधा अर्थ है, स्वयं को स्वस्थ एवं निरोग बनाए रखना। क्रोध, घणा, वैमनस्य आदि भावनाओं के स्थान पर शान्ति, प्रेम, विनम्रता, मित्रता, सहयोग आदि भावों का उदय होने से व्यक्ति निरर्थक तनाव और दुश्चिन्ताओं से बच जाता है।

अनेक वैज्ञानिक शोध और अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि जो व्यक्ति जितना अधिक क्षमाशील होता है, उतना ही स्वस्थ होता है। कभी कोई रोग हो भी जाए तो वह बहुत जल्दी उससे मुक्त हो जाता है।

आज के जीवन में सुधार न होने का प्रमुख कारण है हमारे जीवन में क्षमा का अभाव (सकारात्मक सोच) इसलिए परस्पर संबंध प्रायः सामान्य नहीं रह पाते। संबंधों में सुधार का अर्थ है उपचार। यह उपचार क्षमा के माध्यम से किया जा सकता है। यह समाजिक या अर्थिक समस्याओं से ही नहीं, बल्कि मानसिक और भौतिक व्याधियों में भी उपयोगी रहता है इसके लिए हमें स्वयं को क्षमाशील बनाना होगा। जिस व्यक्ति ने क्षमा करना सीख लिया उसने अपनी अनेक बीमारियों (व्याधियों) पर नियंत्रण करना भी सीख लिया।

अब प्रश्न उठता है कि क्षमा कर देना ही महत्वपूर्ण है या फिर क्षमा मांगना भी दोनों महत्वपूर्ण है। क्षमा मांगने का अर्थ है, अपने मिथ्या अहंकार से मुक्त होना। जो व्यक्ति जितना अहंकारी होता है, वह क्षमा से उतना ही दूर होता जाता है। ऐसा व्यक्ति न तो खुद क्षमा मांग सकता है और न दूसरे को क्षमा कर सकता है। क्षमा मांगने वाले और क्षमा करने वाले दोनों के अहंकार का अन्त निश्चित है। अहंकार स्वयं में मनुष्य की एक विकट व्याधि (बीमारी) है। क्षमा

द्वारा अहंकार से युक्त होकर हम अपना जीवन सुखद बना सकते हैं।

यदि क्षमा नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ है, हम क्रोध, क्षोभ, अशान्ति, अस्वीकृति, प्रतिकार और नकारात्मक भावों का स्वयं में और पोषण करते जा रहे हैं। ऐसे में हमारी सारी ऊर्जा इन्हीं के पोषण में लग जाती है। यह असन्तुलन हमारी अनेक बीमारियों के लिए उत्तरदायी है। क्षमा द्वारा हम अपना यह असन्तुलन समाप्त कर शान्त एवं निरोगी जीवन व्यतीत कर सकते हैं। अतः हमें अपने जीवन के उत्थान के लिए जीवन में धीरे-धीरे क्षमा करना एवं क्षमा मांगना शुरू कर देना चाहिए। जब जागो तभी सवेरा। यह न सोचें कि मेरा जीवन अब तक व्यर्थ ही गया। जब ईश्वर की विशेष अनुकम्पा मेरे ऊपर हुई और मैं एकनिष्ठ रहा, तब से मेरे जीवन में क्षमा करना आने लगेगा। एक बार इस मार्ग पर चलना शुरू कर दीजिए तो मंजिल भी जरूर मिलेगी। अतः क्षमा को जीवन में धारण करने का निरन्तर प्रयास करते रहें। क्षमा से ही मेरा जीवन श्रेष्ठ बनेगा और मैं उसके (भगवान/अपने स्वयं के) नजदीक रह पाऊंगा। अतः जीवन में क्षमा करना एवं क्षमा मांगना दोनों के जीवन में आने से समाज और मेरा जीवन सुखमय एवं शान्त रहने लगेगा अर्थात् मैं सुखमय जीवन का वास्तविक आनन्द ले पाऊंगा।

क्षमा कमजोरी की निशानी नहीं, अपितु वीरता का भूषण है। क्षमा एक विचित्र गुण है। क्षमा करने व माँगने से कर्म का बंधन नहीं होता। क्षमा द्वारा अहिंसा का पालन होता है, जो योग की ओर ले जाने में सहायक है। क्षमा से नकारात्मक भाव दूर होते हैं। अलीगढ़ में एक सज्जन श्री यशपाल सिंह जी है जो बैंक में प्रबंधक के पद पर सेवारत हैं। उन्होंने अपनी बेटी का विवाह दो वर्ष पूर्व अपने चिर-परिचित व्यक्तियों में बड़ी धूम-धाम से किया था जिस लड़के से विवाह किया वह भारत सरकार में क्लास वन अधिकारी है। लड़की के ससुराल वालों ने दहेज के चक्कर में लड़की मार डाला, इसके बावजूद भी यशपाल सिंह जी ने आगे कानूनी कार्यवाही न करने पर दृढ़ रहे। उनका मानना था कि अगर मैं उनको सजा करा भी दूँ तो मेरी बेटी वापस नहीं जा सकती। आज दोनों परिवारों में संबंध नहीं है। परन्तु इन महाशय जी ने समाज के लिए एक सेवा उदाहरण पेश किया कि सभी लोग लड़की के माता, पिता व भाई की तारीफ करते हैं यह है सकारात्मक सोच का प्रभाव।

उपरोक्त घटना सकारात्मक सोच का अनमोल उदाहरण है जिसकी आज भी समाज में तारीफ की जाती है।

भारत की भाषिक विविधता और समकालीन समाज

शुभनीत कौशिक



शुभनीत कौशिक, जेएनयू के ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र, सामाजिक विज्ञान संस्थान की शोध छात्रा हैं। प्रस्तुत निबंध को विश्व हिंदी दिवस के उपलक्ष्य में आयोजित हिंदी निबंध प्रतियोगिता में पुरस्कृत किया गया।

विविधता से समृद्धि : भारत के राष्ट्रीय विकास का उल्लेखनीय पक्ष
भाषाएँ दुनिया को देखने-समझने और अभिव्यक्ति का जरिया होने के साथ-साथ व्यक्तियों और समूहों को सामाजिक-सांस्कृतिक आदान-प्रदान का अवसर भी देती हैं। हरेक भाषा परिवर्तनों के दौर से गुजरती है। भाषा में आने वाले बदलाव कई बार अनैच्छिक और स्वतःस्फूर्त होते हैं, पर कई बार ये बदलाव नियोजित और सुविचारित भी होते हैं, जैसे भाषा-संबंधी मुद्दों पर राज्य द्वारा अपनी नीतियों के जरिए किया जाने वाला हस्तक्षेप। राष्ट्रवाद के उद्भव और विकास के साथ ही भाषाएँ भी राजनीतिक प्रतीक बन गईं और धीरे-धीरे वे खुद राष्ट्रीयता की परिचायक तक बन गईं। अस्मिताओं की निर्माण प्रक्रिया में भी भाषाओं ने अहम भूमिका अदा की। ज्योतिरिंद्र दास गुप्ता सरीखे विद्वानों ने अपने गंभीर वैचारिक शोध से यह साबित किया है कि भाषाई विविधता राष्ट्रीय विकास के मार्ग में आधा नहीं खड़ी करती।¹ बल्कि भाषाई बहुलता राष्ट्रीय संस्कृति की विविधता को और व्यापक तथा समृद्ध बनाने में योगदान देती हैं। भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा किए गए अनुसंधानों और संज्ञानात्मक-मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए नवीन शोधों से यह बात भी पुष्ट हुई है कि दो या दो से अधिक भाषाएँ बोलने वाले समाज में रहने वाले बच्चों का संज्ञानात्मक विकास एकभाषीय समाज में रहने वाले बच्चे से कहीं अधिक होता है।

भारत सैकड़ों भाषाओं का देश रहा है। इन भाषाओं की निश्चित संख्या पर आज भी असहमति है। जहाँ 2001 की जनगणना में भाषाओं की कुल संख्या 122 दर्ज की गयी, वहीं पीपल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया ने भारत में भाषाओं की कुल संख्या 780 बताई। संयुक्त राष्ट्र की एजेंसी यूनेस्को के अनुसार भारत में भाषाओं की कुल संख्या 197 है। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में कुल बाईस भाषाएँ शामिल हैं : असमिया, बांग्ला, गुजराती, कन्नड, कश्मीरी, हिंदी, कोंकणी, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, ओड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलुगु, उर्दू, बोडो, संथाली, मैथिली और डोगरी।

पर यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि भारतीय भाषाओं की संख्या महज उतनी ही नहीं है जितना कि आठवीं अनुसूची या जनगणना हमें बताती है, इन भाषाओं की संख्या इससे कहीं ज्यादा है। इनमें से कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जो आज विलुप्त होने के कगार पर हैं। ऐसी लुप्तप्राय भाषाएँ अधिकांशतः भारत के आदिवासी समाज और भारत के सुदूर तटवर्ती और पर्वतीय क्षेत्रों

में रहने वाले समुदायों की भाषाएँ हैं। अंडमान एवं निकोबार द्वीपसमूह के आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली कई भाषाएँ खत्म हो चुकी हैं। इस प्रश्न पर विचार करने के साथ कि कैसे इन समृद्ध भाषाओं की विरासत को सहेजा जाए, हमें यह भी सोचना होगा कि उनके साहित्य को कैसे अन्य भारतीय भाषाओं में और शेष विश्व तक पहुंचाया जाए। हमें कुछ फौरी कदम भी उठाने होंगे, जिनसे इन भाषाओं को हमेशा के लिए विलुप्त हो जाने से बचाया जा सके।

राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय भाषाएँ

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान आम भारतीयों के बीच राजनीतिक चेतना के प्रसार और उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए हिन्दुस्तानी जनमानस को तैयार करने में भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों, समाचारपत्रों, लेखकों ने जो योगदान दिया, वह अविस्मरणीय है। बांग्ला में बंकिम चंद्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, काजी नज़रूल इस्लाम; मराठी में लोकमान्य तिलक, गोपाल गणेश आगरकर, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर; तमिल में सुब्रमण्यम भारती; उड़िया में फकीर मोहन सेनापति; गुजराती में गोवर्धनराम त्रिपाठी; और हिंदी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, माधवराव सप्रे और प्रेमचंद आदि के योगदान को समझे बगैर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को उसकी समग्रता में नहीं समझा जा सकता।

आजादी की लड़ाई के दौरान भारत के राष्ट्रवादी नेताओं को एक राष्ट्रभाषा की जरूरत लगातार महसूस होती रही। महात्मा गांधी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी को समूचे भारत के लिए उपयुक्त एक ऐसी ही राष्ट्रभाषा के रूप में देखा। इसी तरह भाषाई आधार पर प्रांतीय समितियों का भी गठन किया गया। समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मुखपत्र कांग्रेस सोशलिस्ट में लिखते हुए 22 नवंबर 1937 को 'नोट्स ऑन एजुकेशन एंड कल्चर' शीर्षक लेख में लिखा था कि 'भारतीय भाषाओं में हिन्दुस्तानी एक ऐसी भाषा है, जो लगभग एक-तिहाई हिन्दुस्तानियों द्वारा बोली जाती है और उससे कहीं ज्यादा लोगों द्वारा समझी जाती है। जहाँ हर सौ में साठ भारतीय हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं, वहीं सिर्फ सौ में एक भारतीय अंग्रेजी समझ सकता है। यह स्पष्ट ही है कि साठ और एक के इस अंतर के रहते हुए इस देश में अंग्रेजी भाषा लोकोपयोगी नहीं हो सकती।² अंग्रेजी के बरक्स हिन्दुस्तानी की वकालत करते हुए

लोहिया सिर्फ संख्याबल का इशारा नहीं कर रहे थे, वे हिंदुस्तानी के व्यापक प्रसार और उसकी लोकप्रियता की ओर भी संकेत कर रहे थे। स्पष्ट करने की जरूरत है कि राष्ट्रवादी नेताओं ने यह बात बार-बार कही कि हिंदुस्तानी राष्ट्रभाषा के रूप में अन्य भारतीय भाषाओं की जगह नहीं लेगी, बल्कि वह समूचे हिंदुस्तान को जोड़ने वाली 'संपर्क भाषा' के रूप में काम करेगी। इसलिए आज जब कतिपय समूह हिंदी को समूचे भारत पर थोपने की बात करते हैं, तो उन्हें यह याद रखना चाहिए कि हिंदी का उद्देश्य अन्य भारतीय भाषाओं को विस्थापित करने का नहीं बल्कि उनके साथ सह-अस्तित्व में रहने और सौहार्द्रपूर्ण संबंध बनाए रखने और देश को एक सूत्र में जोड़ने का होना चाहिए।

आज़ादी के बाद का परिदृश्य

आज़ादी के बाद संविधान सभा ने दूरदर्शिता दिखाते हुए भारत के लिए किसी एक राष्ट्रभाषा को चुनने की बजाय अनेक भाषाओं को (आज इन भाषाओं की संख्या 22 है) राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। भाषाई संकीर्णता दिखलाने और भाषाई अस्मिता को स्वीकार न करने के भयावह दुष्परिणाम हमने दक्षिण एशिया में ही पाकिस्तान और श्रीलंका में देखे। विभाजन के बाद पाकिस्तान में उर्दू को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया। यह कदम पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) के नेतृत्व और वहाँ के नागरिकों को कतई स्वीकार नहीं था, जो बांग्ला को भी उर्दू के समकक्ष रखने की माँग कर रहे थे। नतीजतन पूर्वी पाकिस्तान में इस नीति का लंबा विरोध शुरू हुआ, जिसकी अंतिम परिणति 1917 में बांग्लादेश के एक स्वतंत्र राष्ट्र के उदय के रूप में हुई। इसी प्रकार श्रीलंका में सिंहली भाषा को एकमात्र राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया, जिसने श्रीलंका के तमिल समुदाय को असंतुष्ट कर दिया, जिसकी भयावहता तब सामने आई जब श्रीलंका को लगभग तीन दशकों तक गृहयुद्ध झेलना पड़ा।

संविधान के अनुच्छेद 343 'क' के अनुसार हिंदी को राजभाषा का दर्जा तो मिला, पर आज़ादी के बाद के वर्षों में हिंदी के प्रचार-प्रसार और संवर्धन में वह गति न हासिल हो सकी जितनी कि अपेक्षित थी। शायद इसीलिए प्रख्यात हिंदी साहित्यकार रामवृक्ष बेनीपुरी ने, 1957 में आज़ादी के दस साल बीत जाने पर भी हिंदी-भाषी प्रांतों में ही हिंदी की स्थिति में सकारात्मक सुधार न आने की आलोचना करते हुए लिखा:

हम हिंदीभाषियों से पूछना चाहते हैं - स्वराज्य के 10 वर्ष हो गए; इन 10 वर्षों में अपने-अपने राज्यों में, हिंदी-भाषी राज्यों में उन्होंने हिंदी के लिए क्या किया, जो अहिंदी भाषी राज्यों में हिंदी को स्थान दिलाने के लिए इतने बेचैन हैं? क्या वे हिंदी-राज्यों के सचिवालयों, कचहरियों, विश्वविद्यालयों, अपने दिनोंदिन के कामकाज में हिंदी को पूर्ण स्थान दिला सके। क्या वे व्यापक हिंदी-क्षेत्र से अंग्रेजी को विदा दिला सके कि सारे भारत में हिंदी के प्रचार और प्रसार के लिए व्याकुल हो उठे हैं।

भारतीय भाषाएँ और समकालीन परिदृश्य: चुनौतियाँ और समाधान

आज हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं की दशा पर विचार करते हुए हमारा ध्यान सिर्फ उनके साहित्यिक अंग तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि हमें यह मूल्यांकन भी करना होगा कि इन भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क्या कुछ नया सृजित हो रहा है। जब भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की किताबों की चर्चा होती है तो अक्सर बात अनुवादों तक सीमित करने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में लिख मानक ग्रंथों के हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के अतिरिक्त, हमें उन विषयों पर भारतीय भाषाओं में मौलिक ग्रंथों का अभाव क्यों है, इस प्रश्न पर भी सोचना होगा। जैसा कि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा था कि संसार में अग्रणी भाषाएँ वही हैं जिनमें सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान की पुस्तकें लिखी जाती हैं। दिनकरजी ने अपने एक लेख में भारतीय भाषाओं में विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, इतिहास, भूगोल और चिंतन संबंधी लेखन के अपेक्षाकृत अभाव का भी प्रश्न उठाया था। और इस प्रश्न पर सोचते हुए उन्होंने भारतीय भाषाओं के लेखक, पाठक और प्रकाशक पक्ष पर विचार करने की बात कही थी।⁵ संस्कृति के चार अध्याय सरीखी पुस्तक के रचयिता दिनकरजी गूढ़ चिंतन से जुड़ी किताबों के जिस 'अपेक्षाकृत अभाव' का जिक्र कर रहे हैं, उसे कतई नकारा नहीं जा सकता।

हिंदी समेत अधिकांश भारतीय भाषाओं में मौलिक चिंतन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाली किताबों और वैसे ही विचारकों की दरकार आज भी बनी हुई है। इसके लिए वैज्ञानिक शब्दावली के विकास हेतु पहले से कहीं अधिक परिश्रम की जरूरत है। आज सोशल मीडिया और सिनेमा ने अपने खास ढंग से भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दिया है, पर गंभीर और सृजनात्मक चिंतन से अनुपूरित साहित्य का अभाव अब भी भारतीय भाषाओं की एक दुखती रग है। इक्कीसवीं सदी में वैश्वीकरण को हमें भारतीय भाषाओं के लिए एक अवसर के रूप में देखना चाहिए, न कि संकट के रूप में। तकनीक और प्रौद्योगिकी के समुचित इस्तेमाल से तथा भाषाओं के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के सहयोग और आम लोगों को इन पहलों से जोड़कर हम भारत की भाषिक विविधता को न सिर्फ बरकरार रख सकते हैं, बल्कि उसे दिन-प्रतिदिन समृद्ध भी कर सकते हैं।

1. ज्योतिरिंद्र दास गुप्ता (1970), लैंग्वेज कांफ्लिक्ट एंड नैशनल डिवलपमेंट: ग्रुप पॉलिटिक्स एंड नैशनल लैंग्वेज पॉलिसी इन इण्डिया, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
2. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ राममनोहर लोहिया (2011), खंड-VII, सम्पा। मस्तराम कपूर, अनामिका प्रकाशन, पृ. 328
3. रामवृक्ष बेनीपुरी (2001), स्वाधीनता और समाजवाद, स्वराज प्रकाशन, पृ. 476
4. रामधारी सिंह 'दिनकर' रचनावली (2011), सम्पा. नंदकिशोर नवल और तरुण कुमार, खंड-9, लोकभारती प्रकाशन पृ. 23-25

भारत की भाषिक विविधता एवं समकालीन समाज

सोनम सिंह



सोनम सिंह, जेएनयू के भारतीय भाषा केंद्र शोध की छात्रा हैं। प्रस्तुत निबंध को विश्व हिंदी दिवस के उपलक्ष्य में आयोजित हिंदी निबंध प्रतियोगिता में पुरस्कृत किया गया।

हमारी इस्तलाहो से ज़बां न आशना होगी लुगायत ए मगरिबी बाज़ार की भाषा से ज़म होंगे।

- अकबर इलाहाबादी

भाषा संस्कृति की वाहिका होती है, चूँकि भारत बहुभाषा भाषी समुदायों का समुच्चय है जिनमें सांस्कृतिक विभिन्नता है। आजादी के बाद भारतीय राज्यों के गठन का आधार ही भाषा थी, भाषाई विविधता के कारण भारतीय जनमानस की सामूहिक चेतना का बोध विकसित करना थोड़ा कठिन है, ऐसे में अनुवाद के माध्यम से विभिन्न जातियों के साहित्य व संस्कृति से परिचित होने का द्वार हमारे समक्ष खुला है, समकालीन परिस्थितियां भी इसके अनुकूल है बहुत दिनों से लंबित पड़े “त्रिभाषा सूत्र” को लागू किए जाने का सर्वोच्च न्यायालय का फैसला आने वाले दिनों में महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। भाषा के विकास सम्बन्धी अपने नियम होते हैं, समाज के स्थिर होते हुए भी भाषा बदल सकती है और समाज में हो रहे त्वरित परिवर्तनों के बावजूद भाषा स्थिर हो सकती है परन्तु सामाजिक परिवर्तन कहीं न कहीं भाषा को प्रभावित करते हैं और भाषा समाज के बिलकुल निचले तबके तक पहुंचती है और वो वर्ग भी अपनी संवेदनाएं व्यक्त करने में सक्षम होता है जिससे समाज समृद्ध होता है, कुछ दलित चिंतकों ने स्वीकार किया की अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव ने उनके आन्दोलन में बहुत सहायता की, वह प्रत्येक वर्ग की भाषा बनी लेकिन उसी भाषा को एक ऊँचे तबके ने भी गर्व के साथ स्वीकार किया उसे अपने वर्ग से जोड़ा और हमेशा परोसता रहा, ऐसे वक्त में मुझे भारतीय भाषाओं में ही समाधान दिखता है।

भारत की सबसे बड़ी विशेषता इसकी विविधता, बहु-भाषिकता और बहु-सांस्कृतिकता ही तो है जो अन्य देशों में इस रूप में नहीं पायी जाती, 2001 के एक सर्वे के मुताबिक भारत में 122 मुख्य भाषा है तथा 1600 के लगभग बोलियाँ हैं, यहां लगभग 500 संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं। इतनी भाषाओं और संस्कृतियों को समेटने वाला यह दुनिया का अकेला देश है। हजारों वर्षों से इतनी भाषाओं का बचे रहना अपने आप में अजूबा है, इससे भी दिलचस्प है भूमंडलीकरण, बाजारवाद के दौर में सैकड़ों भाषाओं की सक्रिय उपस्थिति।

भाषा वैज्ञानिकों ने सभी भाषाओं को एक विशेष क्षेत्र के अंतर्गत रखा और भाषाओं को मोटे तौर पर 5 भाषा परिवारों में बांटा।

अंतर्गत भाषा

1. भारतीय आर्य-भाषा परिवार: हिंदी, उर्दू, गुजराती, उड़िया, बंगाली, मराठी।
2. द्रविड़ भाषा परिवार: तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु।
3. तिब्बती-चीनी भाषा परिवार: बोडो मणिपुरी।
4. आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार: मुंडारी खडिया खासी।
5. अंडमानी भाषा परिवार: ग्रेट अंडमानी, जारवा, लिटिल अंडमानी, ओंगे।

इस तथ्य से हम सभी वाकिफ है की किसी भी भाषा की लोकप्रियता उसकी महत्ता को निर्धारित करने में उस प्रान्त विशेष की राजनीति, भौगोलिक स्थिति और साहित्य का विशेष योगदान रहता है। चर्चा के क्रम में यदि मैं सबसे पहले हिंदी की बात करूँ तो, हिंदी को एक भाषा के बजाय भाषा-समूह कहना ज्यादा सही है। भाषा-विज्ञानी मैथिली, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, अवधी, मेवाती, ढूँढाड़ी, ब्रज, मारवाड़ी, कुमायूनी आदि को भले ही स्वतंत्र भाषाएं मानते हैं लेकिन आम जनता के बीच इनको सम्मिलित रूप में हिंदी ही कहा जाता है, यह भारत की सबसे बड़ी भाषा है और पिछले दशकों में तेजी से देश की संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई है, यह दुनिया की सबसे ज्यादा बोली और समझी जाने वाली भाषाओं में शुमार है।

हिंदी की लंबी और समृद्ध साहित्यिक परंपरा भी है, भाषा की लोकप्रियता आज भी तय करने में साहित्यिक जगत सर्वथा कार्यरत है। कबीर से लेकर मुक्तिबोध तक प्रत्येक साहित्यकार ने किसी न किसी तबके को जोड़ा है भाषा से, और लेखकों ने अपनी कलम से भाषा के समृद्धि में वृद्धि ही की है। हिंदी के बाद गर उर्दू जबान की चर्चा करूँ तो उर्दू खड़ी बोली का हिंदी के अलावा दूसरा रूप है। ‘उर्दू’ शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है ‘शाही शिविर’ या ‘खेमा’ (तम्बू, तुर्कों के साथ यह शब्द भारत में आया और इसका यहाँ प्रारम्भिक अर्थ खेमा या सैन्य पड़ाव था। शाहजहाँ ने दिल्ली में लालकिला बनवाया, यह भी एक प्रकार से ‘उर्दू’ (शाही और सैन्य पड़ाव) था, किन्तु बहुत बड़ा था। अतः इसे ‘उर्दू’ न कहकर ‘उर्दू ए मुअल्ला’ कहा गया तथा यहाँ बोली जाने

वाली भाषा 'ज़बान ए उर्दू ए मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलाई।

इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको "हिंदी", "हिंदवी" अथवा "ज़बाने देहलवी" कहा था।

बहरहाल, उर्दू साहित्य में नवजागृति के वास्तविक चिह्न 1857 के विद्रोह के बाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट हैं। इन कारणों से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसीने नए कवियों और साहित्यकारों को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया।

तत्पश्चात मेरे सामने पूर्वोत्तर राज्य के किसी एक भाषा को चुनने का विकल्प हो तो मैं असमिया का चयन करूंगी, असम प्रांत को कई बार विभाजन का दंश झेलना पड़ा है।

देश के आजाद होते ही असम प्रदेश का चाय की खान कहा जाने वाला जिला शिलहट पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में चला गया था। बाद में अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मिजोरम और मेघालय जैसे नए प्रांत भी इसी में से बने।

पुराने असम की संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई असमिया ब्रह्मपुत्र घाटी में तो जीवन के तमाम इलाकों में प्रयुक्त होती ही है, उत्तर-पूर्वी सीमांत के अरुणाचल प्रदेश और मेघालय प्रांत में भी लंबे समय से उपयोग होती रही है। असमिया बोलने वालों की संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है, मिश्रित जनसंख्या होने के कारण असमिया को असम की राजभाषा बनाने पर उसका उग्र विरोध भी हुआ, धीरे-धीरे बाहर से आए समूहों ने असमिया की जगह अपनी भाषाओं के लिए जगह बनाना शुरू कर दिया, इतिहास के थपेड़ों को झेलती हुई यह लगातार अपना विकास कर रही है।

द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएँ पंचद्रविड़ भाषाएँ कहलाती हैं। किसी समय इन पंचद्रविड़ भाषाओं में कन्नड़, तमिल, तेलुगु, गुजराती तथा मराठी भाषाएँ सम्मिलित थीं। किंतु आजकल पंचद्रविड़ भाषाओं के अंतर्गत कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु मानी जाती हैं। वस्तुतः तुलु कन्नड़ की ही एक पुष्ट बोली है जो दक्षिण कन्नड़ जिले में बोली जाती है।

तुलु के अतिरिक्त कन्नड़ की अन्य बोलियाँ हैं - कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनों का नीलगिरि जिले में प्रचलन है। नीलगिरि जिला तमिलनाडु राज्य के अंतर्गत है।

इस क्रम में आगे हम आदिभाषा की बात करेंगे, तो मुझे संस्कृत की जीवटता आश्चर्यचकित करती है, देवभाषा से लेकर अब तक इसका विद्यमान रहना व उसी रूप में सर्वत्र स्वीकारा जाना निश्चित इस भाषा को वैज्ञानिक दर्जा देती है, हालाँकि आज के समय में संस्कृत का हिंदी के सामान दर्जा नहीं है, लेकिन इस दर्ज ना होने के पीछे साहित्यकारों की अनुपस्थिति है, शोध आदि के क्षेत्र में तो यह भाषा सक्रिय है लेकिन साहित्य की दौड़ में अन्य

भाषाओं से थोड़ी पीछे है।

यह विश्व की सबसे पुरानी उल्लिखित भाषाओं में से एक है। संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार की हिन्द-ईरानी शाखा की हिन्द-आर्य उपशाखा में शामिल है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ जैसे मैथिली, हिंदी, उर्दू, कश्मीरी, उड़िया, बांग्ला, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, (नेपाली), आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं। इन सभी भाषाओं में यूरोपीय बंजारों की रोमानी भाषा भी शामिल है। सर्वाधिक शुद्धता के कारण यह कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर के लिए एक उपयुक्त भाषा है (फ़ोर्ब्स पत्रिका जुलाई 1987 की एक रिपोर्ट में) इन भाषाओं के अतिरिक्त मलयालम, तमिल, कन्नड़, कोंकणी, नेपाली, कश्मीरी, पंजाबी आदि भाषाओं का भी अपना समृद्ध इतिहास रहा है, वर्तमान में इन भाषाओं की पहुँच हमारे तक उनके साहित्य के माध्यम से है, तमिल के सुब्रह्मण्यम भारती, पंडित राजगोपालन, इंदिरा पार्थसारथी, मलयालम के चंदू मेनन, कन्नड़ भाषा के पोन्न पम्प आदि लेखकों के सार्थक उपस्थिति के कारण ही हमारी पहुँच उन भाषाओं तक भी है।

आठवीं अनुसूची में रखी जाने वाली भाषाओं के अतिरिक्त उस प्रान्त विशेष की बोलियाँ भी अपने अस्तित्व के लिए आंदोलनरत है, "भोजपुरी" इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

भाषिक विविधता के बाद यदि कुछ बात में समकालीन समाज पर करूँ तो मेरी समझ से समकालीनता एक काल बोधक इकाई है। भारत में समकाल की शुरुआत आपातकाल यानी 1975 के बाद मानी जा सकती है।

आपातकाल के विरुद्ध एक जनांदोलन खड़ा होता है इंदिरा सरकार के विरोध में जिसका नेतृत्व जे.पी. कर रहे थे इसे सम्पूर्ण क्रांति के नाम से जाना गया। संपूर्ण क्रांति आन्दोलन के बाद भारतीय राजनीति में किसान वर्ग सक्रिय होता है और बीसवीं सदी के 9वें दशक में तीसरे मोर्चे की सरकार बनती है।

कुछ लोग 90 के बाद यानी भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण आने के बाद के भारत को समकालीन भारत मानते हैं। वैसे यह समय पूंजीवाद, बाजारवाद, भूमंडलीकरण उदारीकरण के दौर से गुजर रहा था, जिससे भारतीय समाज का मूल ढांचा तेजी से बदल रहा था। कुल मिलाकर 75 से 90 के बीच भारतीय राजनीति में किसान और शुद्र जातियों का उभार दिखाई पड़ने लगा था।

राजनीति में दिखाई पड़ने वाली यह घटना मूलतः समाज में घट रही थी। इस सामाजिक घटना का असर साहित्य में भी दिखाई पड़ता है जिससे दलित साहित्य का उदय हुआ, दक्षिण भारत से लेकर आगे चलकर उत्तर भारत तक यह व्याप्त होता है।

चूँकि साहित्य सर्जना में ही संभव है अतः हम देखते हैं की समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तनों के साथ साथ समाज की वर्चस्वशाली शक्तियों का भाषा पर से एकाधिकार धीरे धीरे खत्म होता जा रहा है।

जब समाज के वंचित तबकों ने अपनी भाषा अर्जित कर ली तब उनके विशिष्ट अनुभव साहित्य के माध्यम से व्यक्त हुए। उन्होंने अपने लिए नयी भाषा, नया साहित्य और नए सौन्दर्यबोध विकसित किए, भाषा अर्जन के साथ ही उनके यहाँ सामाजिक राजनैतिक स्तर पर प्रतिरोध का स्वर मुखरित हुआ और आज संसाधनों में समान हिस्सेदारी की जायज मांगे रखी जा रही हैं।

हमारे पूर्ववर्ती समाजों में लोक एवं साहित्य दोनों जगह भाषाई शुद्धता का आग्रह एवं तत्समीकरण की प्रवृत्ति श्रेष्ठताबोध का परिचायक होती थी परन्तु समकालीन समाज में खड़े हुए अस्मितामूलक विमर्शों यथा दलित विमर्श, आदिवासी-विमर्श, स्त्री-विमर्श ने भाषा के आभिजात्य को तोड़ा है, जिससे भाषा का स्वरूप सरल, सहज एवं सर्वग्राही हो सका है, उसकी पहुँच व्यापक हुई है।

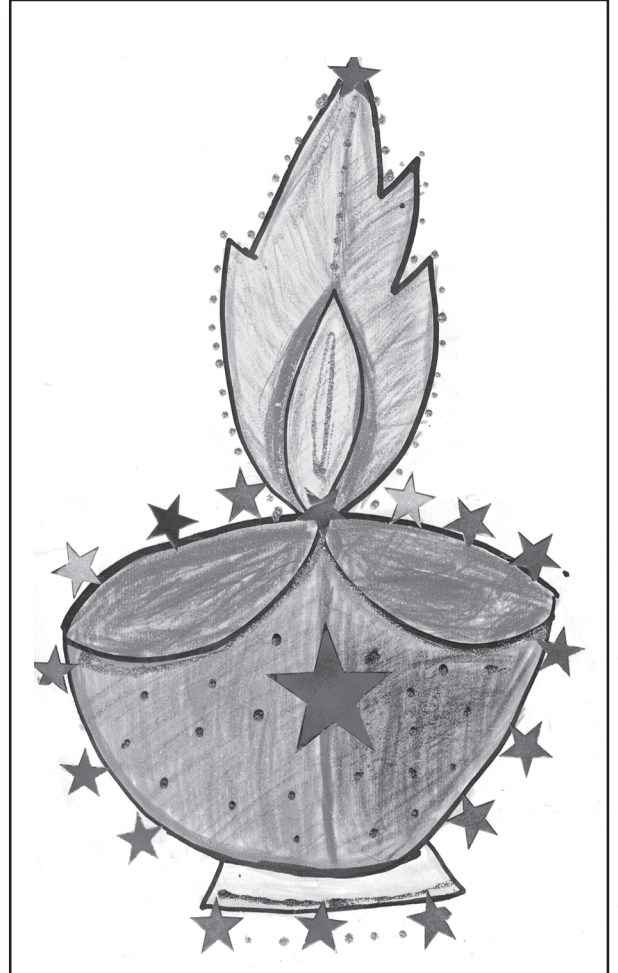
इन अस्मितामूलक विमर्शों में विरोध, नकार, प्रतिरोध के साथ ही साथ परिवर्तन की छटपटाहट भी है जो सामान्य भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकती है अन्यथा वह अपना मूल स्वर खो बैठेगी।

समकालीन समाज में भाषाओं के अस्तित्व को लेकर मचे चहुँओर हाहाकार में भी भाषाओं के समृद्ध इतिहास को देखकर आश्वस्ति होती है की, भूमंडलीकरण, बाजारवाद के कठिन दौर में भी यदि भाषाएँ अपना सहज विकास कर रहीं तो आगे भी इसके प्रति हमें आश्वस्त होकर इस दिशा में सार्थक प्रयास किए जाने की जरूरत मात्र है।

भारत की भाषाएँ अपने इतिहास, भौगोलिक विस्तार को समेटे चिरकाल तक विकास के पथ पर अग्रसर रहेंगी निश्चित ही।



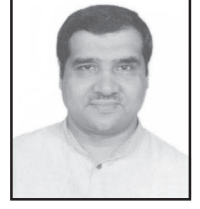
चित्रेश गुप्ता, नर्सरी, जेएनयू



मदिहा आमिर, नर्सरी, जेएनयू

समग्र स्वास्थ्य के लिए योग

योगाचार्य डॉ. अजय कुमार शास्त्री



उत्तम स्वास्थ्य मनुष्य के व्यक्तित्व तथा उसकी भावनात्मक प्रवृत्तियों का संतुलित विकास है जो उसे अपने परिवेश के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने के योग्य बनाता है। वस्तुतः यह हमारे शरीर के अन्दर जैविक क्रियाओं का एक सुन्दर तालमेल है जो गुणकारी योगाभ्यासों के साथ-साथ आहार प्रणाली के नियमन तथा स्वयं एवं परिवेश के प्रति सकारात्मक सोच अपनाने से प्राप्त किया जा सकता है।

मानव जाति ने अपने विकास क्रम में सामाजिक, भौतिक, वैज्ञानिक एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उपलब्धियाँ हासिल करते हुए एक लम्बा सफर तय कर लिया है। बेशक इन उपलब्धियों ने हमारे जीवन को पहले से कहीं अधिक सहज बनाया है। तथापि हम इस सच से भी इंकार नहीं कर सकते कि इन उपलब्धियों के कारण हमें अंतहीन निराशा के साथ-साथ बड़ी संख्या में शारीरिक एवं मानसिक विकास भी विरासत में मिले हैं। मशीनों के आविष्कार ने हमारे जीवन में शारीरिक श्रम के अवसर को सीमित कर दिया है। और हम शारीरिक क्रियाकलापों से विरत हो गए हैं। जो एक स्वस्थ मन एवं स्वस्थ शरीर के लिए आवश्यक है। औद्योगिकीकरण से वायु और जल प्रदूषित होने के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।

यह सच है कि हमारे जीवनकाल में हमारी कई इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं। परन्तु काफी कुछ अर्जित कर लेने के पश्चात् भी अपने जीवन के अधिकांश क्षणों में हम सुख शांति, स्वास्थ्य और तृप्ति से वंचित रह जाते हैं।

योगियों का मानना है कि भौतिक सम्पत्ति से प्राप्त खुशी ज्यादातर अल्पकालिक एवं भ्रामक ही होती है।

जीवन के विविध अनुभवों के प्रति लचीलेपन एवं उद्देश्य परता की क्षमता प्राप्त करना ही अच्छे स्वास्थ्य का लक्षण है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य को इस रूप में परिभाषित किया है। यह महज रोग के अभाव की अवस्था नहीं बल्कि शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन क्षमता की पूर्णरूपेण संतुलित स्थिति है। अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति और उसके आसपास की दुनिया के बीच संतुलन की एक अवस्था एक दूसरे से तालमेल तथा आत्मतत्त्व का परमतत्त्व एवं वातावरण की यथार्थता के साथ सह अस्तित्व की अवस्था है। मानसिक रूप से स्वस्थ एक व्यक्ति अंतर्द्वन्द्व से मुक्त होता है। न कि उनसे विचलित होता है। उसमें आत्मसम्मान की प्रबल भावना होती है। तथा वह भावना एवं विवेक के बीच संतुलन बनाए रखता है। वह समस्याओं से जूझता है तथा बुद्धिमत्ता पूर्वक उनका समाधान करता है। यही कारण है

कि उन्नत स्वास्थ्य व्यक्तियों समाजों राष्ट्रों तथा विश्व के कल्याण में निर्णायक भूमिका निभा रहा है।

सम्पूर्ण स्वास्थ्य का तात्पर्य सिर्फ व्यक्तिगत सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि यह व्यक्ति एवं समुदाय जिसका वह स्वयं एक अंग होता है। व्यक्ति एवं समाज जिसका अंग स्वयं उसका समुदाय भी होता है।

वस्तुतः योग प्राचीन भारतीय विज्ञान है जिसका प्रादुर्भाव हजारों वर्ष पहले हुआ। यह भारतीय दर्शन की छः पद्धतियों में से एक है। योग आत्मा को इन्द्रियानुभव तथा ज्ञान से परे सर्वव्यापी परमात्मा से जोड़ने का एक मार्ग है। यह व्यक्ति के शारीरिक मानसिक नैतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण में सहायक है।

योग शब्द की उत्पत्ति मूल शब्द युज् से हुई है। युज् का अर्थ है जुड़ना (एकत्व)। तदनुसार योग को आत्मा की सर्वव्यापी परमात्मा से जोड़ने के साधन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्र की द्वितीय सूक्ति में योग को चित्तवृत्तियों का निरोध कहा है। योग कठिन प्रयत्न के द्वारा मानवीय प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्वों के नियंत्रण द्वारा इन्द्रिय तथा मन के निग्रह की प्रणाली है (तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा व्यक्ति अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित योग पद्धति विचार-शक्ति को स्थिरता की ओर ले जाने तथा मन को केन्द्रित करने का एक उत्तम साधन प्रदान करती है। योगाचार्य वशिष्ठ के अनुसार योग मन को शांत करने की एक उत्कृष्ट प्रविधि है। स्वामि विवेकानन्द जी के अनुसार योग एक अनुशासित अभ्यास है। जिसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार सम्भव है। इसमें कुछ वर्षों का समय भी लग सकता है या सिर्फ कुछ दिनों का ही योगाभ्यास के द्वारा चेतना को बाह्य एवं आंतरिक विषयों से अलग किया जाता है। यह कर्म योग अनासक्त होकर कर्म करना भक्ति योग ईश्वर को सर्वस्व समर्पण ज्ञान योग ज्ञानार्जन तथा राजयोग मन एवं इन्द्रियों का संयम के माध्यम से ही संभव है।

स्वास्थ्य और कल्याण के लिए यौगिक अभ्यास योग साधनाओं में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान, समाधि बंध एवं मुद्रा शट्कर्म युक्ताहार, मंत्रजप युक्त कर्म आदि साधनाओं का अभ्यास सबसे अधिक किया जाता है। यम प्रतिरोधक एवं नियम अनुपालनीय है। इन्हें योग अभ्यासों के लिए पूर्व अपेक्षित एवं अनिवार्य माना गया है। आसन का अभ्यास शरीर एवं मन में स्थायित्व लाने में सक्षम है। (कुर्यात्तदासनम् स्थैर्यम्) अर्थात्

आसन का अभ्यास महत्वपूर्ण समय सीमा तक मनोदैहिक विधि पूर्वक अलग-अलग करने से स्वयं के अस्तित्व के प्रति दैहिक स्थिति एवं स्थिर जागरुकता बनाए रखने की योग्यता प्रदान करता है।

प्राणायाम् श्वास प्रश्वास प्रक्रिया का सुव्यवस्थित एवं नियमित अभ्यास है। यह श्वसन प्रक्रिया के प्रति जागरुकता उत्पन्न करने एवं उसके पश्चात् मन के प्रति सजगकता उत्पन्न करने तथा मन पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायता करता है। अभ्यास की प्रारंभिक अवस्था में श्वास प्रश्वास प्रक्रिया को सजगता पूर्वक किया जाता है। बाद में यह घटना नियमित रूप से नियंत्रित एवं निर्देशित प्रक्रिया के माध्यम से नियमित हो जाती है। प्राणायाम का अभ्यास नासिका, मुख एवं शरीर के अन्य छिद्रों तथा शरीर के आंतरिक एवं बाहरी मार्गों तक जागरुकता बढ़ाता है। प्राणायाम् अभ्यास के दौरान नियमित नियंत्रित और निरक्षित प्रक्रिया द्वारा श्वास को शरीर के अन्दर रोकने की अवस्था कुंभक तथा नियमित नियंत्रित और निरीक्षित प्रक्रिया द्वारा श्वास को शरीर के बाहर छोड़ना रोचक कहलाता है।

प्रत्याहार के अभ्यास से व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के माध्यम से सांसारिक विषय का त्याग कर अपने मन तथा चैतन्य केन्द्र के एकीकरण का प्रयास करता है। धारणा का अभ्यास मनोयोग के व्यापक आधार क्षेत्र के एकीकरण का प्रयास करता है। यह एकीकरण बाद में ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। इसी ध्यान में चिंतन (शरीर एवं मन के भीतर केंद्रित ध्यान) एवं एकीकरण रहने पर कुछ समय पश्चात् यह समाधि की अवस्था में परिवर्तित हो जाता है। बंध एवं मुद्रा ऐसे योग अभ्यास हैं जो प्राणायाम से संबंधित हैं। ये उच्च यौगिक अभ्यास के प्रसिद्ध रूप माने जाते हैं। जो मुख्य रूप से नियंत्रित श्वसन के साथ विशेष शारीरिक बंधों एवं विभिन्न मुद्राओं के द्वारा किए जाते हैं। यही अभ्यास आगे चलकर मन पर नियंत्रण स्थापित करता है और उच्चतर यौगिक सिद्धियों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। हालांकि ध्यान का अभ्यास जो व्यक्ति को आत्मबोध एवं श्रेष्ठता की ओर ले जाता है। योग साधना पद्धति का साथ माना गया है।

षट्कर्म शरीर एवं मन शोधन का सुव्यवस्थित एवं नियमित अभ्यास है जो शरीर में एकत्रित हुए विष को हटाने में सहायता प्रदान करता है। युक्ताहार स्वस्थ जीवन के लिए पर्याप्त सुव्यवस्थित एवं नियमित भोजन का समर्थन करता है।

मंत्र जाप : मंत्रों का चिकित्सकीय पद्धति सं उच्चारण ही जाप अथवा दैवीय नाम कहलाता है। मंत्र जाप सकारात्मक

मानसिक ऊर्जा की सृष्टि करता है जो धीरे-धीरे तनाव से बाहर आने में सहायता करता है।

युक्त कर्म स्वस्थ जीवन के लिए सम्यक उचित कर्म की प्रेरणा देता है। योग निश्चित रूप से सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति प्रदान करने का साधन है। वर्तमान समय में हुए चिकित्सा शोधों ने योग से होने वाले कई शारीरिक और मानसिक लाभों के रहस्य प्रकट किए हैं। यही नहीं लाखों योग अभ्यासियों के अनुभव के आधार पर इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि योग किस प्रकार सहायता कर सकता है।

योग शारीरिक स्वास्थ्य स्नायुतन्त्र एवं कंकालतन्त्र को सुचारु रूप से कार्य करने और हृदय तथा नाड़ियों के स्वास्थ्य के लिए हितकर अभ्यास है। यह मधुमेह श्वसन संबंधी विकार उच्च रक्तचाप निम्न रक्तचाप और जीवन शैली संबंधी कई प्रकार के विकारों के प्रबंधन में लाभप्रद एवं स्वास्थ्य निरोग तथा आरोग्य करने में एक सक्षम अभ्यास है।

योग अवसाद, थकान, चिंता संबंधी विकार और तनाव को कम करने में सहायक है। योगाभ्यास महिलाओं विशेषकर मासिक अनियमितताओं को भी नियमित बनाता है। संक्षेप में यदि यह कहा जाए कि योग शरीर एवं मन के निर्माण की ऐसी प्रक्रिया है। जो समृद्ध और परिपूर्ण जीवन की उन्नति का मार्ग है न कि जीवन के अवरोध का और हमेशा योगाभ्यास प्रार्थना के मनोभाव से प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रार्थना ही योगात्मक भावों को उजागर कर मन एवं तन को आत्मा से एकबद्ध करने में अहम भूमिका निभाती है। और यही एकात्मा होकर नकारात्मक भावनाओं से दूर रखना भय, क्रोध, अवसाद, चिंता दूर कर और सकारात्मक भावनाएं विकसित करने में मदद करता है। मस्तिष्क दोषों को दूर कर सर्वथा मन तन को आनन्दमय बनाए रखने में मदद करता है। और निश्चल रखता है। एकाग्रता स्मृति विचारों की स्पष्टता और मनोबल को बढ़ाता है।

पूरे शरीर और मस्तिष्क को पर्याप्त आराम देते हुए उन्हें तरोताजा करता है। और विशेष योग के सत्र को जब भी समापन की तरफ जाएं तो कुछ संकल्प करते हुए आगे बढ़ना चाहिए जैसे मैं संकल्प लेता हूँ कि हमेशा अपनी सोच में स्वस्थ चिन्तन बनाए रखूंगा एवं संतुलन नहीं बिगड़ने दूंगा। ऐसी मनःस्थिति मेरे उच्चतम आत्म विकास की असीम संभावनाएं प्रदान करती है। इस प्रकार योग में योग के आसनों के अंतर्गत शरीर संवंधनात्मक आसनों की भी चर्चा की जाती है।

सबसे जरूरी है कि हम हमारी राष्ट्रीय पहचान के बारे में सोचें जिसके बिना आजादी कोई अर्थ नहीं होता।

— पं. दीनदयाल उपाध्याय

स्वास्थ्य :

नैनो औषधि : नवीन चिकित्सकीय क्रांति का सूत्रपात

डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव



डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव, जेएनयू के जीवन विज्ञान संस्थान में पूल वैज्ञानिक के रूप में सेवारत हैं।

नैनोऔषधि (नैनोमेडिसीन) नैनोतकनीक का चिकित्सकीय उपयोग है। यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि नैनोतकनीक क्या है? नैनोतकनीक अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) की एक विधा है और यह एक उभरता हुआ नवविज्ञान है। इसके अंतर्गत किसी यंत्र व पदार्थ का उत्पादन नैनो पैमाने पर किया जाता है। सामान्य तौर पर हम यह कह सकते हैं, कि नैनो मात्रात्मक रूप से परमाणु आकार के मापन से जुड़ा हुआ है।

एक नैनोमीटर, मीटर के खरबवें हिस्से के बराबर होता है। मनुष्य के एक बाल की मोटाई 25000 नैनोमीटर के बराबर होती है। नैनोतकनीक विज्ञान का वह क्षेत्र है, जहाँ पर रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, यांत्रिकी व संगणक (कम्प्यूटर) विज्ञान का संगम होता है।

यह क्षेत्र विज्ञान के लिए एक क्रांतिकारी परिवर्तन का चरण है। नैनोतकनीक का उपयोग हमारे जीवन उपयोगी उत्पाद के निर्माण के क्षेत्र में हो रहा है, परन्तु इसका औषधि के रूप में रोगों के निदान के लिए प्रयोग होना एक नयी चिकित्सीय क्रांति का सूत्रपात है।

दूसरा प्रश्न यहाँ पर उठता है कि सामान्य प्रचलित औषधि व नैनो औषधि में अंतर क्या है? नैनो औषधि सामान्य औषधि की तुलना में कहीं अधिक गुणकारी व लाभकारी है क्योंकि यह हमारे शरीर के रोग ग्रसित भाग में पहुँचकर वहाँ पर ही क्रिया करेगी अन्य भागों पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता।

अतः यह औषधि अत्यंत ही विशिष्ट प्रभाव वाली होगी। नैनो औषधि की शरीर में उपलब्धता भी किसी अन्य औषधि की तुलना में अधिक होने से उसका प्रभाव सटीक रूप से अत्यधिक होगा। सामान्य औषधि से होने वाले दुष्प्रभावों को भी नैनो औषधि के प्रयोग से न्यूनतम स्तर पर लाया जा सकता है। नैनो औषधि का उपयोग कैंसर, हृदय सम्बन्धी रोगों, मधुमेह व विषाणु जनित रोगों के उपचार के लिए प्रयोग की संभावनाएं शोध के सफलतम परिणामों से भी बलवती हुई हैं। अभी भी इसके सफलतम व प्रभावी उपयोग के लिए अत्यधिक शोध की आवश्यकता है।

नैनो औषधि से जुड़े हुए कुछ नकारात्मक तथ्य भी है जैसे विषाक्तता व पर्यावरणीय प्रभाव। ये नकारात्मक तथ्य गहन शोध व संशोधन से दूर किए जा सकते हैं। जिनको दूर करना कोई जटिल प्रक्रिया नहीं है। नैनो औषधि का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है।

यह केवल उपचार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह रोग के कारण निर्धारित करने वाले यन्त्र विकसित करने, रोग के लक्षणों का समय-समय पर विश्लेषण के पूर्वानुमानों व औषधि के शरीर में पहुँचने के पश्चात् उसके प्रभावों व दुष्प्रभावों पर भी पूर्ण रूप से प्रभावी होगा।

नैनो औषधि के जिन दो मुख्य प्रकारों का सफलता पूर्वक उपयोग हुआ है, वे हैं स्वर्ण धातु का नैनो कण और लिपोसोम। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार जो उपयोग में हैं जैसे क्यूबोसोम, नैनोफाइबर, नैनो बायो कैटालिस्ट, नैनो पोरस कैरियर, नैनो कंटेनर, व पालीमर नैनो कैरियर आदि।

कुछ नैनो औषधियां मनुष्य पर उपयोग के लिए शीघ्र ही उपलब्ध होने वाली हैं। ये निम्नवत हैं -

(1) **एवरैक्सनै** - यह संयुक्त राज्य अमेरिका के खाद्य व औषधि विभाग; एफडीए द्वारा स्तन कैंसर व अग्नाशयी कैंसर के उपचार के लिए स्वीकृत हुआ।

(2) **डोक्सिले** - यह भी एफडीए द्वारा स्वीकृत है। यह एक एचआईवी; एड्स रोग से सम्बन्धित कापोसी सार्कोमा के उपचार में उपयोगी होगा। यह अग्नाशय के कैंसर व मल्टीपल मापलोमा के उपचार में भी लाभप्रद है।

(3) **बोनीवायेडी** - यह एफडीए द्वारा प्रमाणित है और मेटास्टैटिस अग्नाशयी कैंसर के उपचार में उपयोगी है।

(4) **सी-डाट्स कोरोनले** - यह सिलिका नैनोकण पर आधारित एक यन्त्र है, जिसका शल्य चिकित्सकों को शरीर में कैंसर की सही स्थिति व उसको हटाने में मदद मिलेगी।

ऐसे बहुत से नैनो औषधियों के उदाहरण। इनका चिकित्सा जगत में उपयोग एक क्रांतिकारी परिवर्तन की तरह होगा। भविष्य की कई ऐसी संभावनाएं हैं, जो कि अभी भ्रूणावस्था में हैं और नैनो औषधि के गर्भ से जन्म लेने वाली है। ये संभावनाएं निम्नवत हैं-

(1) **पुनरुद्भवन् औषधि - (रिजनेटिव मेडीसीन)** - रिजनेटिव मेडीसीन किसी कोशिका, ऊतक या अंग के क्षय या नष्ट होने की दशा में ऊतक पुनर्निर्माण किए जा सकने के लिए प्रयुक्त होने वाले जैव पदार्थ, ऊतक, द्रव्य आदि को कहते हैं। रिजनेटिव मेडीसीन को भी नैनो औषधि की तरह भविष्य में प्रयोग किए जाने की संभावना है। यह शरीर के आन्तरिक ऊतकों व अंगों के क्षय

होने की स्थिति में अधिक कारगर तरीके से उसे पूर्व निर्मित करने में मददगार होगी।

(2) **आनुवांशिक रोग के उपचार में (जेनेटिक रोग) -** जेनेटिक रोग जीन (गुणसूत्र) की कमी या उत्परिवर्तन के कारण होती है। इस रोग को नैनो औषधि की मदद से ठीक करने की सम्भावना बलवती हुई है। इसके अंतर्गत नैनो कणों के बने खोल में “सही जीन” को रखकर प्रत्येक शारीरिक कोशिका के नाभिक तक पहुँचाया जाएगा, फिर खराब जीन को हटाकर, सही जीन को उसमें समावेष्टित कर दिया जाएगा। इस सही जीन के पहुँचते ही, सही प्रोटीन का निर्माण आरम्भ हो जाएगा और रोग पूर्णतया समाप्त हो सकता है।

(3) **आपातकालीन औषधि (इमरजेन्सी मेडिसिन) -** आपातकालीन औषधि का तात्पर्य उस औषधि से होता है, जिसकी तुरन्त आवश्यकता, किसी आकस्मिक दुर्घटना से हुई क्षति के संदर्भ में होती है। इस अवस्था में व्यक्ति के जीवन को सुरक्षित रखने व आगे होने वाली बड़ी क्षति से बचाने की होती है।

उदाहरणार्थ, मस्तिष्क आघात (ब्रेन हेमरेज) की दशा में रक्त वाहिनियों के फटने की घटना। यह स्थिति दुर्घटना से या रक्त चाप के असामान्य रूप से बढ़ने से होती है। रक्त के रिसाव रोकने के पश्चात, बाहर आए हुए रक्त कण, जो कि मस्तिष्क कोशिकाओं पर जमा हो जाते हैं, उनको हटाने का होता है यदि उसको शीघ्रतापूर्वक नहीं हटाया गया तो वे मस्तिष्क की कोशिकाओं को नष्ट कर देते हैं। इस दिशा में नैनो औषधि का महत्व बढ़ जाता है।

नैनो कण एण्टीकोगुलेटिंग एजेन्ट जैसे हिपैरिन को वहा सटीक रूप से पहुँचाकर क्लोटेड (थक्का) रक्त को पूर्ण रूप से हटा सकते हैं। इस प्रकार का उपयोग आपातकालीन औषधि के रूप में नैनो औषधि का किया जा सकता है।

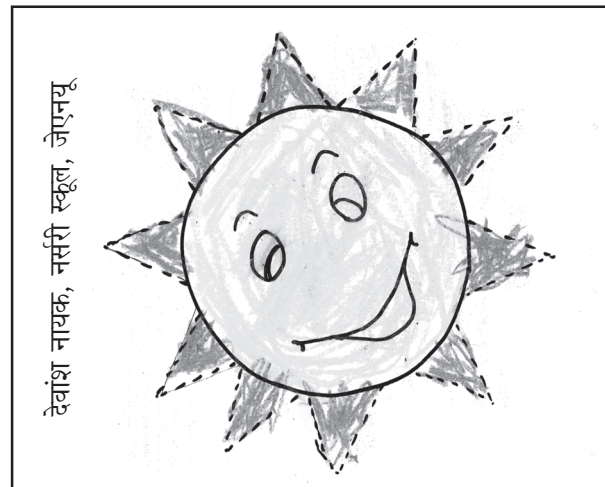
(4) **त्वरित औषधि (रेपिड मेडिसिन) -** त्वरित औषधि उसे

कहते हैं, जो कि बिना बिलम्ब के त्वरित गति से प्रभाव दिखाते हुए जटिल स्थितियों से जीवन की रक्षा करने में सक्षम हो। उदाहरणार्थ, हृदयाघात की अवस्था में त्वरित औषधि की बड़ी भूमिका होती है और जरा सा विलम्ब व्यक्ति का प्राण हर लेता है। इस जटिल अवस्था से निपटने के लिए त्वरित औषधि जो कि नैनोकण पर आधारित है, बहुत ही प्रभावकारी होगी।

(5) **भ्रूणावस्था में रोग की पहचान व निदान का उपाय -** नैनोकण आधारित औषधि का उपयोग भ्रूणावस्था में रोग की पहचान व निदान करने में महत्वपूर्ण हो सकती है।

नैनो औषधि सटीक व विशिष्ट रूप से भ्रूण के रोग जनक हिस्से की जानकारी देकर भ्रूणावस्था में ही उसके निदान का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। दूसरी तरफ यह पहचान किए गए रोगजनक हिस्से को स्वस्थ करने की प्रक्रिया में प्रभावकारी होगी, वह भी बिना भ्रूण के विकास को बाधित किए।

(6) **पर्यवेक्ष औषधि (मानीटरिंग मेडिसिन) -** नैनो कण आधारित औषधि का विकास रोग की शारीरिक मानीटरिंग (निगरानी) करने की प्रक्रिया में प्रभावकारी होगा। यह रोग के सम्भावित लक्षणों के आने से पहले ही उसके निदान की प्रक्रिया को शुरू करने में भी प्रभावी होगा। उदाहरणार्थ - कोई कैंसर का रोगी जिसका कैंसर ग्रस्त ऊतक किसी अंग से शल्य क्रिया द्वारा हटाया जा चुका है, उसमें कैंसर के किसी दूसरे अंग में पनपने की आशंका बनी रहती है। इसकी मानीटरिंग अत्यंत आवश्यक है। यह कार्य नैनो औषधि द्वारा बहुत ही प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। जब कैंसर शरीर के दूसरे हिस्से में प्रारम्भिक अवस्था में होगा तो उसी समय उसकी पहचान करके उसका निदान किया जा सकेगा। इस प्रकार से नैनो औषधि स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर हमें कई गंभीर व असाध्य रोगों से मुक्त कराने में सफल होगी और एक दिन हम यह कहने में संकोच नहीं करेंगे कि नैनो औषधि ही आधुनिक युग की संजीवनी बूटी है।



वन टू का फोर...

संदीप सौरभ



संदीप सौरभ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में शोध छात्र एवं छात्र संघ के सचिव रह चुके हैं।

जब जेएनयू में दाखिला लेने जब ऐड ब्लॉक पर पहुंचा था तो वहां हम नए छात्रों को किसी छात्र संगठन का एक 'स्वागत पर्चा' पढ़ने को दिया गया था। वह पर्चा मुझे बहुत रोचक लगा था। मुझे भी उसकी एक बात याद रह गई- 'यहां क्लासरूम और उससे भी अधिक दीवारें बोलती हैं, यहां का डाइनिंग मेस आपसे अक्सर मुखातिब होता है और यहां के ढाबे भी बोलते हैं- यह जेएनयू है।' ऐसी पंक्तियां मेरे लिए उत्साह और खोज के कारण बन बैठे।

लंबे यत्न के बाद मुझे इस खोज में एक छोटी सी सफलता तब हाथ लग गई जब मैं एक बार गोदावरी बस स्टॉप से चलकर नॉर्थ गेट की तरफ जा रहा था। बस समझिए कि यही कोई एक सप्ताह पहले की बात है। रात के दो-तीन बज रहे होंगे।

सड़क तकरीबन खाली थी। टेफ्रलास के सामने पहुंचा तो देखता हूं कि सड़क किनारे दो ढाबे एक दूसरे से मुखातिब थे। अरे... ये तो गंगा ढाबा और साबरमती ढाबा आपस में बात कर रहे हैं। यह देखकर मैं तो कसम से चौंक गया। अर्रर... फिर उस पर्चे की वो पंक्तियां याद आईं। फिर लगा कि इसे तो ढूंढ ही रहा था। सोचा देखते हैं कि दो ढाबे आपस में क्या बात करते होंगे! सड़क पार कर मैं एक छोटे-से पुलियानुमा सीमेंट बेंच पर जाकर बैठ गया। दोनों की आवाज़ साफ-साफ सुनाई आ रही थी।

गंगा ढाबा ने पूछा- 'क्यों परेशान से हो, भई?'

साबरमती ढाबा- 'नहीं यार! परेशान नहीं हूं, बस कुछ सोच रहा हूं। (कुछ देर रुककर....) जैसे सोच रहा हूं कि ऐसा क्यों हो रहा है कि हमारे आसपास एक जीवंतता बनी रहे इसमें किसी को दिक्कत हो! लोग चाय-सिंघाड़ा करते हैं, आपस में बात करते हैं तो क्या दिक्कत है भई! रात में 11 बजते ही हमें विरान क्यों बनाया जा रहा है?'

गंगा ढाबा उससे सीनियर था। उसकी जड़ें ज्यादा गहरी थीं। साबरमती ढाबा ने अपनी चिंता साझा कर दी थी। गंगा ढाबा कुछ देर सोचता रहा। तब तक साबरमती ढाबा ने अपनी बात और आगे बढ़ा दी-

11 बजते ही सबको अपने आप में हो जाना है, क्या ये फरमान सही है? किसी को रात में चाय पकौड़ा खाने का मन हो तो... अब बताईए कि मेरे पड़ोसी 24x7 और नॉर्थ ईस्ट ढाबा को तो रात भर खुल रहा था। उन्हें भी बंद करवाया जा रहा है। कोई लाइब्रेरी से पढ़कर आए और उसे ढाबे पर बैठकर के कुछ खाना पीना हो तब... और फिर बताइए कि मुझे क्यों कह दिया जा रहा है कि 11 बजे के बाद सो जाओ? या फिर विरान होकर टुफर-टुफर सड़क पर गुजरते लोगों को देखते रहो! ये हुजुरे आला

चाहता क्या है, ये बताईए।

गंगा ढाबा ने अपनी लंबी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा- 'यह सब उनके डर का परिणाम है। वे बहुत डरे हुए हैं।'

इस जवाब का मतलब समझना मेरे लिए उतना आसान नहीं था। अच्छा हुआ कि साबरमती ढाबा ही पूछ बैठा- 'मतलब...'

'मतलब यह कि जो लोग हमारी गोद में बैठकर चाय-समोसा करते हुए आपस में बातचीत करते हैं। वो क्या बात करते हैं कभी ध्यान दिए हो?' गंगा ढाबा ने पूछा।

इससे पहले कि साबरमती ढाबा कुछ कहता, गंगा ढाबा बोलता गया-

'अरे तुमने देखा नहीं कि वहां बैठकर लोग पढ़ाई लिखाई की, टर्म पेपर से लेकर रिसर्च टॉपिक और शोध तक की बातें वहां होती हैं। वहां देश भर की बातें होती हैं, नोटबंदी और जीएसटी पर बातें होती हैं, कहां क्या चल रहा है और क्या चलना चाहिए इस पर बातें होती हैं।'

जेएनयू को टैंक चाहिए या नामांकन की सीटें, इसपर बात होती है। अभी तो सुना है कि छात्र जीएसकैश को भंग किए जाने के बाद बहुत रोष में हैं। ये बातें तो तुम्हारे सामने भी होती होंगी...!'

साबरमती ढाबा ने सहमति में सर हिलाया और अपनी ओर से भी कुछ जोड़ा- 'आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। चाय और पकौड़े के साथ पुदीने की चटनी का स्वाद लेते हुए जिस तरह की बातें करते हैं, उससे तो मुझे भी कई बातें जानने-समझने को मिलती हैं। लेकिन...

'लेकिन! लेकिन क्या?' साबरमती को कन्फ्रयूज होते देख कर गंगा ने पूछा।

'लेकिन अगर अगर छात्र-छात्राएं, शिक्षक या कोई भी ढाबे पर आ रहे हों बैठकर बातें कर रहे हों तो ये तो सब बढ़िया बात है न! यूनिवर्सिटी का तो यही मतलब है! जहां विचारों की अनंत धाराएं अन्य धाराओं से संवाद करे, संघर्ष करे, असहमत हो- लेकिन संवाद हो- यही बातें तो किसी स्पेस को यूनिवर्सिटी बनाता है। फिर इसे बंद करने की बात क्यों? 11 बजे सब कुछ सुनसान-विरान हो जाए, ऐसा आदेश क्यों?' साबरमती ने अपना पूरा कन्फ्रयूजन सामने रख दिया।

जवाब में गंगा ढाबा ने सिर्फ मुसकुरा दिया।

'हां, आप तो हसिंगे ही! आपको तो अब भी 3 बजे तक खुला रहने की अनुमति जो है। हमारी हालत तो देखो जिसे 11 बजे ही

बंद करवाने लोग चिट्ठियां लेकर आ धमकते हैं।' अपनापन से भरे शिकायत मुद्रा में साबरमती ढाबा ने चुटकी ले ली।

गंगा ढाबा ने अपनी गोद में कई दशकों तक कैंपस के लोगों को जगह दी थी। नॉर्थ गेट से करीब होने के कारण बाहर की आहटें भी उसने ज्यादा ध्यान से सुनी थी। कैंपस में होने वाले हजारों आंदोलनों-जुलूसों, नारों और डफली की थाप पर प्रतिरोध के गीत उसने सुने थे। उसने छात्रसंघ के चुनाव में सामने के झेलम लॉन में अपने प्यारे दोस्त चंद्रशेखर का वो ऐतिहासिक भाषण सुना था- 'आवर कमिंग जेनेरेसन्स विल आस्क अस... व्हेयर वेर यू वेन न्यू सोशल फोर्सिस वेयर बिंग अनलिस्टिड...' जेएनयू के खिलाफ होने वाले हर साजिश को और उसके जवाबों को उसने करीब से देखा था। साबरमती भी इन अनुभवों से वंचित नहीं था, लेकिन गंगा ढाबा की जड़े ज्यादा गहरी और पुरानी थी। गंगा ढाबा जेएनयू की गोद में है या जेएनयू उसकी गोद में...?

'ऐसी बात नहीं है दोस्त! मैं भी उन चीजों को महसूस करता हूं। कई लोगों ने इस मुद्दे पर मेरे सामने चर्चा की है। बच्चे बता रहे थे कि शायद कैंपस के हुजुरे आला को यह बात पसंद नहीं कि लोग आपस में ज्यादा घुले मिले।' गंगा ढाबा अपने तजुर्बे भरे अंदाज में बोला।

फिर जैसे कोई गुप्त बात हो, उसने धीरे से बोला- 'लोग तो ये भी कहते हैं कि असल में इन हुजुरे आला की भी ज्यादा चलती कहां है। सुना है कि सब ऊपर के आदेश से होता है। बड़े-बड़े सरकारी दफ्तरों में इसके लिए 'प्लानिंग' बनती हैं। यहां क्या-क्या बंद होना है और क्या-क्या नया खुल जाना है- ये सब ऊपर की बातें हैं। यहां आलाओं के भी आला हैं'

बीच में अचानक से तेज आवाज करने वाली बुलेट बाइक वहां से गुजरी। भड़... भड़... भड़... भड़...। कान झनझना गया। लेकिन ऐसी बाइक और बाइक वाले पर कुछ बुदबुदाने के बजाय मैंने ढाबों के बातचीत को सुनना जारी रखा। बातचीत में क्लाइमेक्स बढ़ता जा रहा था। मैंने अपना पूरा ध्यान उन दोनों की बातचीत पर लगानी चाही, तभी उत्तर की तरफ से मुझे एक पत्थर की आकृति जो बिल्कुल इंसानी आकार की थी, आते हुए दिखती है।

अरे... वह तो सच में पत्थर की ही एक बनावट थी और उसने कपड़े भी पहने रखे थे। सफेद कुर्ता और पजामा और ऊपर से एक बंडी। मैं बुरी तरह से चौंक पड़ा। ये वैसे हो सकता है कि पत्थर का एक इंसानी आकार कपड़े पहन रखे हों और वह चलता भी आ रहा हो। वह बिल्कुल पास आ गया। मैं सड़क के दूसरे साइड में था। मैंने उस आकार के चेहरे को गौर से देखा। उस पर कोई भाव नहीं था। सिर्फ एक चट्टानी चमक थी।

पत्थर का बना वह इंसानी आकार बातचीत में शामिल होने के उद्देश्य से बड़बड़ाया- 'सब एंटी नेशनल है, सब टेरेरिस्ट है, भगाओ इनको देश से... एडमिशन बंद करा दो, बातचीत बंद, ढाबा-उबा... मिटींग-सिटींग सब बंद करा दो। अब देश को खाली चाहिए डेवलपमेंट...डेवलपमेंट.... डेवलपमेंट।' उसकी आवाज़ भारी और कर्कश थी।

गंगा ढाबा ने उसे टोकते हुए पूछा- 'अब तू कौन है बर्खुरदार! और ये ढाबे को बंद करने की बात क्यों कर रहे हो?' आवाज़ में थोड़ी तलखी थी।

'पढ़ने आया है सब, पढ़े और जाए यहां से। बीए-एमए करे और भागे यहां से। रिसर्च क्या होता है, सब फालतू हैं। ज्यादा पढ़कर, ज्यादा बातचीत... ई का बोलते हैं।... हां वाद-विवाद-संवाद करके... ई लोग एंटीनेशनल बात करने लगता है। ढाबा पर भी ई लोग एंटीनेशनल बात करता है। इसलिए ढाबा बंद!...'

उस पत्थर के आकार ने क्रोध और अहंकार से अपने दोनों हाथों को अपनी छाती पर ठोकते हुए कहा- 'हम बोल रहे हैं न! हमारे पापाजी जमींदार थे। पहले तो हमारी बात मानो कि ढाबा बंद हो जानी चाहिए। ढाबा ही क्यों सब कॉलेज और विश्वविद्यालय बंद हो...रिसर्च बंद हो जाए... लोग जाकर नौकरी करें। हिंदू राष्ट्र... हिंदू राष्ट्र... हां...' उसकी बड़बड़ाहट अब गुर्राहट में बदल रही थी।

मैंने गौर किया कि पत्थर का वो आकार कुम्हार की भांथी की तरह सांस ले रहा था। जैसे ही वह सांस भीतर खींचता उसके चेहरे पर भेड़िये की गुर्राहट दिखने लगती। फिर अगले ही पल उसके चेहरे पर भय की परछाई दिखने लगती। पत्थर के होने पर भी उसके चेहरे के हाव भाव आसानी से पढ़े जा सकते थे।

गंगा ढाबा ने उस आकार को टोका- 'अमां तुम तो खुद ही यही के छात्र हो, ढाबे पर फुल ड्रेस में इत्मीनान साथ आकर बैठते हो। तुम ऐसा क्या चाहते हो? क्या तुम उसी डाल को काट देना चाहते हो जिसपर तुम बैठे हो?'

साबरमती ने भी इंट्री मारी- 'तुम तो पूरा ही भस्मासुर जान पड़ते हो उस्ताद! तुम अपने आप में ही इतने अति हो कि खुद ही अपना अंत हो... लेकिन तुम्हारी कोशिशों पर तो जेएनयू भारी पड़ेगा ही...'

पत्थर उस आकार के चेहरे पर एक साथ ही क्रोध अहंकार और डर की रेखाएं उभरने लगी थी। वह गुस्से से फुफकारने लगा था। इससे पहले की कि वो आकार अपने रास्ते आगे बढ़ता उसका चेहरा अचानक के स्ट्रीट लाईट की रोशनी से उजागर हो गया। अरे... ये क्या? ये तो कैंपस का जाना माना समाजशास्त्री ठापक था। मैं भौंचक्का रह गया था। ठापक को हुजुरे आला के दरबार में आते-जाते अक्सर देखा था। उसे रात में भी चश्में में देखा था। लेकिन ऐसे...! पत्थर आकार में....!

बातचीत खत्म होने का समय आ गया था। सबको कहीं और जाना था। मैं भी गंगा ढाबा साथ साथ चल पड़ा। थोड़ी देर बाद सतलज के पार करते ही एक सामुहिक गान कानों में आने लगे थे। धीमी आवाज़ में डफली की धुन भी आ रही थी। उसमें एक आवाज़ बहुत तेज और साफ थी- "...आएंगे, अच्छे दिन आएंगे/ गर्दिश के दिन ये कट जाएंगे... आएंगे अच्छे दिन ..." अगले ही मिनट मैं पूरी टीम के सामने खड़ा था। गंगा ढाबा उनमें तल्लीन उन्हीं के बीच बैठा मुस्करा रहा था।

गतिविधियाँ :

हिंदी-साहित्य समागम दो दिवसीय कार्यक्रम के अंतिम दिन उभरी चिंता

हिंदी को जब तक सामाजिक ज्ञान, विज्ञान और दर्शन की भाषा नहीं बनाएंगे, तब तक इसे बचाना मुश्किल होगा। हिंदी का विकास चाहते हैं तो इसे ज्ञान और दर्शन की भाषा बनाना होगा। हिंदी के लेखकों ने इसे सिर्फ साहित्य और कविता की भाषा बना रखा है। यह बातें शुक्रवार को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के डॉ. देवेन्द्र चौबे ने कही। वह फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी भवन में चल रहे “दो दिवसीय राजभाषा हिंदी-साहित्य समागम” के अंतिम दिन बोल रहे थे।

मंत्रिमंडल सचिवालय (राजस्थान) विभाग की ओर से आयोजित कार्यक्रम के दूसरे दिन के इस प्रथम सत्र में देश के विभिन्न विश्वविद्यालय से आए प्राध्यापकों एवं भाषा विज्ञानियों ने “हिंदी भाषा और नागरी लिपि का मानकीकरण” विषय पर प्रकाश डाला। जबलपुर के रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय से आए प्रोफेसर डॉ. त्रिभुवनाथ शुक्ल ने व्याकरण सम्मत हिंदी, शुद्ध हिंदी तथा मानक हिंदी के बीच के भेद को स्पष्ट किया और कहा कि भाषा के प्रयोग के लिए मानक लिखना आवश्यक नहीं है, उसका शुद्ध होना या व्याकरण सम्मत होना ही पर्याप्त है।

कार्यक्रम में प्रो. रामबक्श मिश्र ने हिंदी के व्याकरणिक रूपों में विकल्पन एवं उनके निराकरण विषय पर अपने विचार रखते हुए कहा कि समाज में भाषा में जो अनेकरूपता पायी जाती है, उसे विकल्पन कहते हैं। विकल्पों की बहुलता किसी भाषा की जीवंतता का प्रमाण है। यह बहुलता क्षेत्रीय बोलियों से मानक भाषा में प्रविष्ट होती है, इसलिए मानक भाषा का बोलियों से जुड़ा रहना बहुत आवश्यक है।

प्रो. बलराम तिवारी ने “देवनागरी लिपि के मानकीकरण एवं कम्प्यूटरीकरण की समस्या” विषय पर कहा कि लिपि के साथ भाषा का मानकीकरण होगा तो वर्तनी का मानकीकरण भी होगा। हिंदी में प्रयुक्त हो रही लगभग तिरसठ ध्वनियों की चर्चा करते हुए उन्होंने ऐतिहासिक, जीवंतता एवं स्वायत्तता को मानकीकरण का आवश्यक तत्व बताया। कहा कि आधुनिक काल में तकनीकी विकास और मशीनीकरण के कारण भाषा को कम्प्यूटर पर लिखने के लिए जा रहे विविध सुझावों से जटिलताएं उत्पन्न हो गई हैं। भाषा हो या लिपि, उसके मानकीकरण की आवश्यकता तभी पड़ती है जब उसमें अनेकरूपता हो क्योंकि मानकीकरण अनेकरूपता में एकरूपता का निर्धारण है।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, नई दिल्ली के पूर्व निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदी के मानकीकरण के प्रयासों के इतिहास पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि विश्व की जितनी भी लिपियां हैं उनमें देवनागरी जैसी वैज्ञानिकता किसी

में नहीं है। हिंदी को नागरी लिपि में जो बोलते हैं वही लिखते हैं। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के प्रचार के लिए उसके लिखने और बोलने में एकरूपता पर बल दिया।

प्रो. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा ने पारिभाषिक शब्दावली की समस्याओं पर प्रकाश डाला। प्रसिद्ध लेखिका डॉ. ऊषाकिरण खान ने हिंदी के विकास में मिथिला के योगदान को रेखांकित किया। प्रो. केसरीलाल वर्मा ने मंच संचालन तथा धन्यवाद ज्ञापन राजभाषा निदेशक रामबिलास पासवान ने किया।

विश्व हिंदी दिवस का आयोजन

विश्वविद्यालय में दिनांक 10-01-2017 को विश्व हिंदी दिवस का आयोजन किया गया। इस अवसर पर चतुर्थ गुणाकर मुले स्मृति व्याख्यान (मेमोरियल लेक्चर) का आयोजन भी किया गया। मुख्य अतिथि के रूप में प्रसिद्ध लेखिका चित्र मुदगल विराजमान हुईं तथा प्रो. दीपक कुमार, प्रसिद्ध इतिहासकार ने चतुर्थ गुणाकर मुले स्मृति व्याख्यान (मेमोरियल लेक्चर) दिया। इस अवसर पर विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं के लिए आयोजित हिंदी प्रतियोगिताओं में विजेता छात्र-छात्राओं को पुरस्कार वितरित किए गए। इस अवसर पर जेएनयू की हिंदी पत्रिका ‘जेएनयू परिसर’ के अंक-8 का लोकार्पण भी किया गया।



जेएनयू में दिनांक 11-01-2017 को नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति (नराकास) के विभिन्न सदस्य कार्यालयों के कार्मिकों के लिए हिंदी निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इस प्रतियोगिता में अनेक अधिकारियों/कर्मचारियों ने भाग लिया। सभी विजेता कार्मिकों को नराकास की बैठक में विश्वविद्यालय के कुलसचिव (रजिस्ट्रार) द्वारा पुरस्कार वितरित किए गए। इसके अतिरिक्त, नराकास के विभिन्न सदस्य कार्यालयों द्वारा आयोजित विभिन्न हिंदी प्रतियोगिताओं में जेएनयू से दो या तीन प्रतिभागियों

को समय-समय पर नामित किया जाता है।

विश्वविद्यालय में प्रत्येक तिमाही में अधिकारियों/कर्मचारियों की सुविधा के लिए हिंदी कार्यशालाओं का भी आयोजन किया जाता है। इन कार्यशालाओं में नोटिंग/ड्राफ्टिंग लेखन कौशल व तकनीक के क्षेत्र में हिंदी के सहज एवं सुलभ प्रयोग के बारे में प्रशिक्षण दिया जाता है। हिंदी कार्यशालाओं में विभिन्न कार्यालयों से प्रशिक्षकों को आमंत्रित किया जाता है। कार्यशालाओं का आयोजन निश्चित रूप से फलदायी रहता है।

उपर्युक्त के अलावा विश्वविद्यालय में प्रतिवर्ष स्वतंत्रता दिवस एवं गणतंत्र दिवस का आयोजन गर्मजोशी एवं हर्षोल्लास के साथ किया जाता है। इन अवसरों पर विश्वविद्यालय के कुलपति तिरंगा फहराते हैं तथा जेएनयू कैम्पस स्थित केंद्रीय विद्यालय (प्राथमिक) एवं विश्वविद्यालय समुदाय के बच्चे सांस्कृतिक कार्यक्रम करते हैं। उपर्युक्त आयोजन विश्वविद्यालय की सामाजिक संस्कृति के द्योतक होते हैं।

ब्रह्मसिद्धि पर राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद (ICPR) के अनुदान से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र द्वारा आयोजित मण्डन मिश्र एवं उनकी ब्रह्मसिद्धि विषयक कार्यशाला का शुभारम्भ विश्वविद्यालय के सामाजिक विज्ञान संकाय के सभागार में किया गया। इस सप्त दिवसीय कार्यशाला में चेन्नई से प्रो. मणि द्रविड़, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रो. राम किशोर त्रिपाठी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से डॉ. धनजय पाण्डेय लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ से प्रो. महानन्द झा एवं डॉ. सतीश के. एस. ने ब्रह्मसिद्धि का पाठ विश्लेषण किया एवं देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के शताधिक प्रतिभागियों को भागीदारी-प्रमाणपत्र दिया गया। प्रो. देवशंकर नवीन ने कार्यशाला के विमर्श पर एक संकलन निकालने की प्रस्तावना की।

आरम्भ में ही कार्यशाला के समन्वयक प्रो. देवशंकर नवीन ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि “हर युग के चिन्तकों के विचार किस कारण समकालीन, और किस कारण शाश्वत होते हैं, यह उसकी चिन्तन पद्धति से तय होता है, विषय मात्र से नहीं। ब्रह्मसिद्धि के हिंदी अनुवाद एवं गहन विचार से स्पष्टतः मण्डन मिश्र के कृतिकर्म के नए तथ्य उजागर होंगे और शायद इसकी आधुनिक व्याख्या शुरू होगी। इस अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. धनजय पाण्डेय, लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ के प्रो. महानन्द झा और डॉ. सतीश के. एस. तथा जेएनयू संस्कृत केन्द्र के प्रो. राम नाथ झा ने अपनी बात रखी। केन्द्र के अध्यक्ष एवं विख्यात कवि प्रो. गोविन्द प्रसाद ने कार्यक्रम की अध्यक्षता

की। अतिथियों का स्वागत केन्द्र के ही प्रो. देवेन्द्र चौबे एवं धन्यवाद ज्ञापन डा. गंगा सहाय मीणा ने किया।

आठवीं शताब्दी में मण्डन मिश्र के द्वारा लिखी गई ब्रह्मसिद्धि पर पहली बार देश के किसी विश्वविद्यालय में सात दिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला में गहन विमर्श किया गया। वेदान्त एवं मीमांसा के प्रवर्तक मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि भारतीय दर्शन की अप्रतिम कृतियों में से एक है जिसका स्पष्ट परिचय अब तक बौद्धिक परम्परा में नहीं हुआ है। कार्यशाला में पधारे विद्वानों ने इस पर चिन्ता प्रकट की।

इस राष्ट्रीय कार्यशाला के समन्वयक प्रो. देवशंकर नवीन ने समापन अवसर पर ब्रह्मसिद्धि के अनुवाद पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि सृजन के तेरह सौ वर्ष बाद भी हमलोग आज इस बात से अनभिज्ञ हैं कि मीमांसक मण्डन मिश्र ने अपनी कृति ब्रह्मसिद्धि में क्या कहा, उसका मूल तत्त्व क्या है। उन्होंने ब्रह्मसिद्धि के पाठ को आमजन तक पहुँचाने का संकल्पन लिया। इन सात दिनों में हुए विमर्श का मूल लिप्यन्त्रण शीघ्र ही पुस्तककार आएगी। जो महामनीषी मण्डन मिश्र को समझने के लिए पाथेय होगा।

लिली रे साहित्य पर विचार गोष्ठी



भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय एवं सेंटर फॉर स्टडीज ऑफ ट्रेडिशन एण्डी सिस्टम्स द्वारा जुलाई 14, 2016 को आयोजित विचार-गोष्ठी में सुविख्यात मैथिली कथाकार लिली रे की रचनाओं पर गहन चर्चा हुई। लिली रे के जीवन और साहित्य द्वारा यह जानना बहुत आसान होगा कि ज्ञान के लिए सदैव सांस्थानिक शिक्षा अनिवार्य नहीं। प्रो. देवेन्द्र चौबे की अध्यक्षता और लिली रे साहित्य के सम्पादक डॉ. रामानंद झा ‘रमण’, लिली रे के पौत्र जुबीन रे, प्रो. देवशंकर नवीन, प्रो. मणीन्द्र नाथ ठाकुर, प्रो. अखलाक आहन, मैथिली-भोजपुरी अकादमी, दिल्ली के सदस्य डॉ. राजेश झा, प्रसिद्ध कथाकार डॉ. गंगेश गुंजन एवं तमिल विदुषी डॉ. डी. उमा देवी विद्वानों की गरिमामय

उपस्थिति में लिलि रे के साहित्य पर ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार हुआ। इस अवसर पर 'रेवोलुशन हाइवे' के लेखक, सुपरिचित इतिहासकार और लिलि रे के उपन्यास पटाक्षेप के नायक दिलीप सीमीयन ने भी अपने विचार रखे। लिलि रे की पुस्तकों की प्रदर्शनी इस आयोजन एक रोचक किस्सा था। इस अवसर पर प्रो. मणीन्द्र नाथ ठाकुर ने घोषणा की कि कहानियों और कहानीकारों को बचा लें तो समाज और संस्कृति भी बच जाएगी, ज्ञान बच जाएगा। कार्यक्रम का संचालन डॉ. सविता एवं धन्यवाद ज्ञापन श्री अमित आनन्द ने किया।

देवशंकर नवीन को बिहार सरकार के राजभाषा विभाग का विद्यापति सम्मान



मातृभाषा मैथिली एवं राष्ट्रभाषा हिंदी में अपनी रचनात्मकता के विशिष्ट योगदान हेतु बिहार सरकार के राजभाषा विभाग ने दिनांक 30 मार्च 2017 को विशिष्ट कवि, कथाकार, समालोचक, अनुवाद-चिन्तक देवशंकर नवीन को फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी, भवन सभागार, पटना में विद्यापति सम्मान से सम्मानित किया। भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में प्रोफेसर पद पर कार्यरत प्रोफेसर नवीन को यह सम्मान सुविख्यात कवि केदारनाथ सिंह के हाथों दिया गया। सम्मान स्वरूप उन्हें प्रशस्ति-पत्र, प्रतीक-चिह्न, अंग-वस्त्र। एवं पचास हजार रुपए का चेक प्रदान किया गया गया। उल्लेखनीय है कि

जेएनयू से पूर्व वे इग्नू, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया एवं जी.एल.ए. कॉलेज डाल्ट नगंज में अपनी विशिष्ट सेवा दे चुके हैं। मैथिली-हिंदी में उनके द्वारा लिखित, सम्पादित, अनूदित लगभग चार दर्जन पुस्तकें भारत के सभी श्रेष्ठ प्रकाशन संस्थानों से प्रकाशित हैं।

जेएनयू में 17वीं योगासन प्रतियोगिता का आयोजन

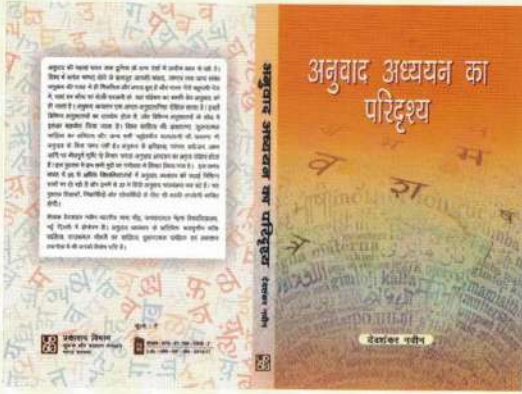


अन्तरहाल प्रशासन के अंतर्गत चलने वाले योग केन्द्र में यह आयोजन किया गया जिसमें लगभग 40 छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। इसका उद्घाटन 30.03.2017 को सुबह 9.30 पर योग केन्द्र में डॉ. जयंत त्रिपाठी ने किया और उद्बोधन दिया। योग जीवन जीने की कला है, योग का मानव जीवन में अहम महत्व है। योग समग्र विज्ञान है। योग प्रत्येक मनुष्य के लिए अत्यंत फायदेमंद है। योग तन-मन और स्वांस को एकाग्र करता है। इसका समापन एवं पुरस्कार वितरण माननीय प्रोफेसर उमेश अशोक कदम (एसोसिएट डीन) ने अपने करकमलों से पुरस्कार वितरण किया जिसमें 3 छात्र और 3 छात्राओं को प्रथम, द्वितीय, तृतीय पुरस्कार दिया गया। प्रतियोगिता विश्वविद्यालय स्तर पर थी। इसमें तीन योग जजों की भूमिका रही जिसमें डॉ. अजय कुमार शास्त्री (योग केन्द्र, जेएनयू) आचार्य योगेश (लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ) दिल्ली एवं श्रीमती प्रतिभा राठी ने योग प्रतियोगिता में योग जज की भूमिका निभाई अंत में प्रो. उमेश अशोक कदम एवं एसोसिएट डीन ने बच्चों को पुरस्कार एवं आशीर्वाद देकर बच्चों का उत्साह बढ़ाया।

अनेकता में एकता व विभिन्न रूपों में एकता की अभिव्यक्ति ही भारतीय सस्कृति की सोच रही है।

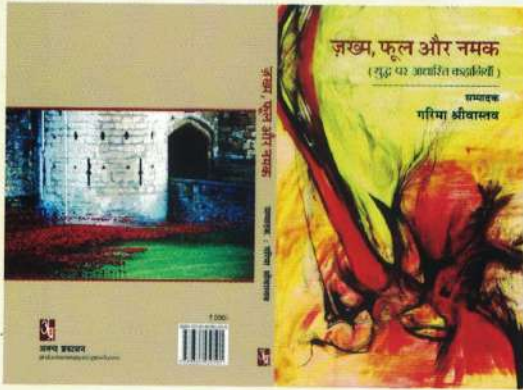
– पं. दीनदयाल उपाध्याय

नए प्रकाशन



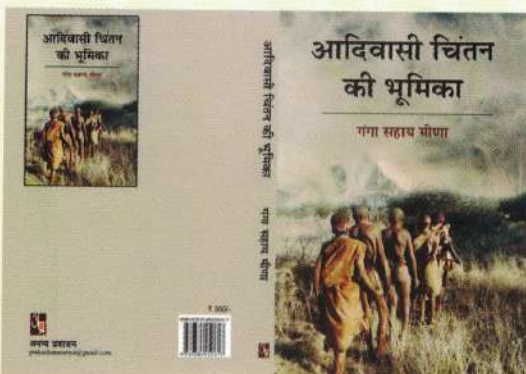
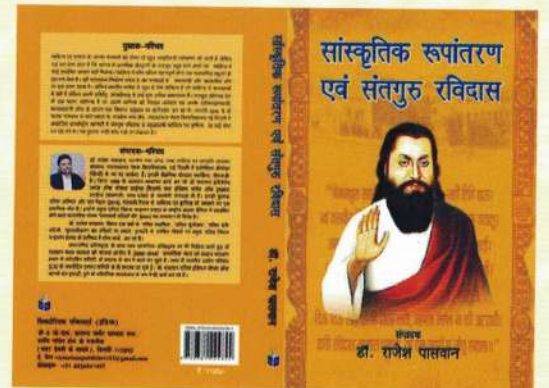
अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य: देवशंकर नवीन। प्रसिद्ध अनुवाद विज्ञानी प्रो. देवशंकर नवीन की यह नवीनतम कृति है। इस पुस्तक में उन्होंने अनुवाद के इतिहास, परंपरा, प्रयोजन, लक्ष्य आदि के साथ-साथ अंतरानुशासनिक शैक्षिक शाखा के रूप में अनुवाद अध्ययन के महत्त्व एवं विश्व साहित्य की अवधारणा, तुलनात्मक साहित्य के अस्तित्व और बहुउद्देशीय पाठ्यक्रमों की कल्पना में अनुवाद की भूमिका पर गंभीरता से विचार किया है। प्रकाशक: प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, मूल्य: 150/-₹ ISBN 978-81-230-2008-2

देह ही देश: गरिमा श्रीवास्तव। हिंदी साहित्य की चर्चित लेखिका प्रो. गरिमा श्रीवास्तव की क्रोएशिया प्रवास डायरी पर केंद्रित यह यात्रा वृत्तांत है। यह पुस्तक सिर्फ डायरी ही नहीं अपितु यात्रा भी है, बाहर से भीतर और देह से देश की, जो बताती है कि देह पर ही सारी लड़ाइयां लड़ी जाती हैं और सरहदें तय होती हैं। प्रकाशक: राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य: 285/-₹ ISBN 978-93-86534-217



ज़ख्म, फूल और नमक: गरिमा श्रीवास्तव। हिंदी साहित्य की चर्चित लेखिका प्रो. गरिमा श्रीवास्तव द्वारा हिंदी में युद्ध पर आधारित कहानियों का यह पहला संकलन प्रकाशित किया गया है। प्रकाशक: राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य: 400/-₹ ISBN 978-95-854-5050-1

सांस्कृतिक रूपांतरण एवं संतगुरु रविदास: राजेश पासवान। प्रख्यात दलित विचारक डॉ. राजेश पासवान द्वारा लिखी गई यह पुस्तक सर्वकल्याणकारी, मानवतावादी संतगुरु रविदास के व्यक्तित्व पर केन्द्रित है। प्रकाशक: विक्टोरियस पब्लिसर्स (इंडिया) नई दिल्ली, मूल्य: 1195/-₹ ISBN 978-93-84224-84-4



आदिवासी चिंतन की भूमिका: गंगा सहाय मीणा। प्रसिद्ध आदिवासी चिंतक डॉ. गंगा सहाय मीणा की यह पुस्तक आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की खोज पर केन्द्रित है। प्रकाशक: अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य: 300/-₹ ISBN 978-93-85450-61-7

“विश्वविद्यालय की विशेषताएँ होती हैं: मानववाद, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचार का साहस और सत्य की खोज। विश्वविद्यालय का काम है उच्चतर आदर्शों की ओर मनुष्य जाति की सतत यात्रा को संभव करना। राष्ट्र और जनता का हित तभी हो सकता है जब विश्वविद्यालय भलीभांति अपने दायित्वों का निर्वाह करें।”

- पं. जवाहरलाल नेहरू

परिसर वीथिका



1. गणतंत्र दिवस (26 जनवरी 2017) के अवसर पर जेएनयू के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार ध्वजारोहण करते हुए।
2. स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त 2017) के अवसर पर ध्वजारोहण के बाद विश्वविद्यालय समुदाय के सदस्यगण।
3. सतर्कता जागरूकता सप्ताह के आयोजन पर एकत्रित विश्वविद्यालय अधिकारी एवं कर्मचारी।
4. 21 सितम्बर 2017 को विश्वविद्यालय में डॉ. निर्मल सिंह, (माननीय उप मुख्यमंत्री, जम्मू और कश्मीर) को कुलपति एवं कुलदेशिक महोदय स्मृति चिह्न भेंट करते हुए।
5. विश्वविद्यालय में सेवानिवृत्ति कार्यक्रम में कुलपति महोदय सेवानिवृत्त कर्मिकों का अभिनन्दन करते हुए।

